तीर्थ-यात्रा

[कहानियाँ]

सुदर्शन

विषय–सूची

भूमिका

गल्प-रचना की विद्या का प्रारम्भ कब हुआ ? किसने किया ? किस तरह किया ? किस स्थिति में किया ? यह सब ऐसे प्रश्न है, जिनका उत्तर समार के इतिहास से मिलना असम्भव है। मगर गल्प के प्रारम्भ के विषय में विश्वस्त रूप से कहा जा सकता है, कि विद्याध्ययन और मनोरजन की यह मोहिनी सामग्री इतनी ही पुरानी है, जितनी यह दुनिया। Richard Burton साहब ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक Masters of the English Novel में लिखा है कि "कहानी दुनिया की सबसे प्यारी वस्तु है, इसलिए आश्चर्य नही कि इसका श्रीगणेश उस समय से हुआ हो जब आदमी ने घुटनो के बल खडा होना सीखा हो।" मगर मेरी राय में कहानी का प्रारभ उम समय हुआ—जब दुनिया के पहले पुत्र ने पहली बार ज्ञान की आँख खोली, सूरज के नीचे किसी सुन्दर रमणीय दृश्य को लोभ की दृष्टि से देखा और उसे अपने मन-मन्दिर की चित्र-शाला में सुरक्षित किया। उस समय प्रकृति ने अभी उसके होठो से चुप की मोहर न तोडी थी, न उसे कोई ऐसी विधि मालूम थी, कि अपने भाव को दूसरो पर प्रकट कर सके। वह केवल चुप की आँख से देखता था, और चुप-चाप सोचता था। इसके बाद मिस्टर मार्विन (Mr. Marwin) के वचनानुसार उसने अपने आस-पास की चीजो की नकल उतारनी शुरू की, और वृक्षो के तनों पर और चट्टानो के खुरदुर पत्थरो पर चित्र बनाने लगा। जिस तरह वह उस समय आप सीधा-सादा था, उसी तरह यह चित्र सीधे-सादे थे। इन चित्रो में कला न थी, कल्पना न थी, आज-कल का सौंदर्य न था। साँप और न्योले की लडाई, शेर और हाथियो का शिकार, देवी-देवताओ की पूजा के सिवाय उनमें और कुछ भी न था। साधारण आदमियो के लिए यह प्रारम्भ अत्यन्त तुच्छ और नि सार प्रारम्भ है, मगर यही तुच्छ और नि सार प्रारम्भ है, जिसने आज अपना विकास करके मानरो बालजाक (Monro Balzac), गी द मपासाँ (Guy De Maupasant), सेन काई विज़ (Sein Ki Wichz), अनातोल फ्राँस (Anatole France), ल्यू टालस्टाय (Leo Tolstoy), जैक लडन (Jack London), अपटन

सिनक्लेयर (Upton Sinclair), और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम साहित्य-ससार में अमर कर दिया है। यह वही परमाणु है, जो आज सूरज बनकर चमक रहा है। यह वही छोटा-सा बीज है जो आज एक विशाल-काय और घने वृक्ष का मनोहर रूप धारण कर चुका है, और दोपहर की हत्यारी गरमी के मारे हुए मुसाफिरो के लिए सुख, विश्राम और जीवन का जीता-जागता सदेसा बनकर खडा है।

मानव-प्रकृति परिवर्तन-प्रिय है। आदमी एक ही चीज को एक ही रग-रूप में देख-देखकर ऊब जाता है। कुछ देर के बाद वह वृक्षो और पत्थरो पर युद्ध, शिकार, पूजा के चित्र देख-देखकर तग आ गया, और अपने मनोरजन के लिए किसी और चीज की खोज करने लगा। उधर इस बीच में उसकी वाक्शक्ति का विकास हो गया और उसने शूरवीरो, भयकर जीव-जन्तुओ, और प्रकृति की अमर देवियो के गीत बनाने शुरू कर दिये। कहानी पहले वृक्षो और चट्टानो पर चुप-चाप पडी सोती थी, अब गीतो के हिंडोले में झूलने लगी, बढने लगी, हाथ-पाँव निकालने लगी।

बाल्यावस्था की आयु समाप्त करके यह होनहार बच्चा गीतो के हिंडोले से उतरा, और अपने पाँव पर चलने लगा। कभी गिरता था, कभी ठोकरें खाता था, कभी उसका कपड़ा काँटों की झाडियो में उलझता था। मगर यह बहादुर मनचला इन रुकावटो की जरा परवा न करता था, और बराबर आगे बढता चला जाता था। इस बालयात्रा में उसे सबसे पहले एक बाग दिखाई दिया। बच्चा ललचा गया, और कुछ दिन यही टिका रहा। फल फूल खाता था, झरनों का पानी पीता था, तोता मैना और हिरणो से बातचीत करता था, और नदी के किनारे बैठा चैन की बाँसुरी बजाता था। इसके बाद एक जादू के शहर में जा फँसा। वहाँ से छूटा तो जोबन और सुन्दरता की कुजगलियों का चसका पड गया। कुछ जमाना इन आहो और गुनाहो में कटा और इसके बाद ज्ञान-चक्षु खुल गये। ख्याल आया, मैं कितना अधम हूँ, जोबन की लालसा में घर-बार सब कुछ बिसार बैठा, मुझे दुनिया क्या कहेगी? यह ख्याल आना था, कि महात्माजी वापिस लौटे, और चुपके से घर का द्वार खोलकर गार्हस्थ्य जीवन में प्रविष्ट हो गये। आज उसके हृदय-सागर में विषय और वासना की प्राण-घातक लहरें नहीं उठती, न

चिडियो, कौवो को देखकर वाल काल की अधीर भावनायें सिर उठाती है। अब वह अपना मतव्य और कर्तव्य समझनेवाला गृहस्थी है, जिसकी सारी मनोवृत्तियाँ घर के लिए है । वह घर से बाहर भी जाता है, हँसता-खेलता भी है, गाता-वजाता भी है, कभी-कभी पुराने पापी मित्रो की चाण्डाल-चौकडी में भी चला जाता है, परन्तु उसके मन का तार घर ही में वजता है ।

या सीधे-सादे शब्दो में हम यो कहेंगे, कहानी का पहला युग वह था, जव रात को वच्चे घर के आँगन में खेलते थे, या बुड्ढे आग तापते थे, और जगली जीव-जन्तुओ की कहानियाँ कहते थे। मालूम होता है पच-तन्त्र और ईसप की कहानियाँ उसी आदिकाल की वची-खुची यादगारें है। इनमें लालित्य हो या न हो, मगर वे सदुपदेश के मोतियो से भरी पडी है। इसके वाद दूसरा युग जादू का युग था। लोग अद्भुत और चक्करदार कहानियाँ माँगने लगे, जैसे अलिफ लैला, चहार दरवेश, तलिस्म होशरुबा की कहानियाँ है। इनमें मनोरजन और माधुरी है, परन्तु दुनिया और दुनिया के नियमो से कोसो पर है। वे कहानियाँ हमारे लोक की नही, किसी और लोक की है, जिसे हमने न देखा है, न कभी देखने की सम्भावना है। वहाँ कभी कवूतर देखते-देखते नौजवान राजकुमार वन जाते है, कभी क्षण भर में विशाल भवन खडे हो जाते है। कभी कटे हुए सिर हँसते है, कभी मृतक शरीर घोडो पर चढकर युद्ध करते है। ये कहानियाँ पाठक को चकित कर देती है। वह डर जाता है। वह तन्मय हो जाता है। वह खाने-पीने की सुध भूल जाता है। परन्तु कहानी की समाप्ति पर वह स्वय अनुभव करता है कि उसने कुछ पढा नही, समय नष्ट किया है। फिर तीसरा युग आरम्भ हुआ, और प्रेम और सौन्दर्य की कहानियाँ शुरू हुई। उनमें चन्द्रमा की नृत्यमयी चाँदनी, फूलो की मद-भरी गध और श्यामा का रोमाचकारी सगीत है। उनमे काव्य है, उनमे कला है, उनमें कल्पना है, और सवसे वढकर यह कि उनमें मानव-हृदय और मानव-भाव की व्याख्या है। परन्तु उनमे एक वुराई है, दुनिया उनसे ऊपर नही उठती, नीचे गिरती है। यहाँ यूरोप और भारत में मत-भेद है। यूरोप कहता है, एक घटना सुन्दरता से वर्णन कर दो, पाठक ऊँचा उठता है, या उसका आचार भ्रष्ट होता

है, इससे हमे कोई सम्बन्ध नही। भारत कहता है, वह रचना रचना ही नही, जो ससार को ऊँचा न उठाये और वह कला-कला नही, जिससे मानवता की उन्नति न हो। परन्तु इस विषय मे दोनो सहमत है कि कहानी में खुला उपदेश न हो। कहानी से उपदेश मिल जाये, यह दूसरी बात है, परन्तु उसमें प्रकट-रूप से उपदेश न दिया जाये। प्रकट-रूप से उपदेश आया और कहानी कला-हीन हुई। वह उपदेश है, वह व्याख्यान है, परन्तु कहानी नही। अब कहानी का जो नवीन युग शुरू हुआ है, वह घर के साधारण जीवन-वर्णन की कहानियो का युग है। वर्तमान समय का सर्व-श्रेष्ठ गल्प लेखक वह है, जो गार्हस्थ्य-जीवन का चित्र खीचकर रख दे। माँ पुत्र बैठते है तो क्या बातें करते है? पति-पत्नी मे मुसनटाव हो जाता है, तो उनके दिल मे क्या विचार आते है? वह किस तरह सुलह-सफाई करना चाहते है, मगर लज्जा उनकी जीभ पकड लेती है। वृद्धावस्था मे बीते हुए जीवन-काल की स्मृति किस तरह आदमी के दिल को उदास कर देती है, उसकी आँखें किस तरह सजल हो जाती है? माता और पिता की, बेटी और बेटे की, बहन और भाई की मुहब्बत मे कितना कितना अतर है, नव-युवती और बुड्ढी स्त्री के विचारो मे कैसा भेद होता है। ये सब ऐसी बातें है, जो वर्तमान युग के गल्पलेखक के लिए अत्युत्तम विषय है। बाज़ार को सैर से हृदय-कमल खिल जाता है, परन्तु जो आध्यात्मिक आनन्द घर के आँगन मे है, वह बाहर कहाँ? जगल का स्वाधीन पछी फूल की टहनियो पर बैठकर कैसा चहचहाता है? उसे सुनील विस्तृत आकाश में उडते देखकर हमारे दिल में भावों की बाढ आ जाती है। परन्तु उसके मन की सच्ची और स्वाभाविक प्रसन्नता देखनी हो, तो उस समय देखो, जब वह अपने परो को समेट कर और जादूभरी आँखो को आधा बन्द करके आधा खोलके अपने घोसले में बैठा हो, और उसे इस बात की कोई चिन्ता न हो, कि बाहर क्या हो रहा है? परन्तु इसके लिए दिल की आँख और आँख के दिल की जरूरत है। सर्व-साधारण की दृष्टि है, जिसमें कोई आकर्षण, कोई गौरव नही। जैसे रागविद्या से अनभिज्ञ आदमी को पक्के राग में मजा नही आता।

इसलिए वर्तमान युग का कहानी लेखक बाहर का कहानी-लेखक नही, अन्दर का कहानी-लेखक है। दुनिया को देखनेवाले बहुत हो चुके है, अब दिल

और घर को देखनेवालो की आवश्यकता है। बाहर क्या हो रहा है किस तरह हो रहा है ? यह हर कोई देखता है। परन्तु घर और दिल के अन्दर क्या हो रहा है ? वहाँ प्रवेश करना, उन्हें देखना और फिर जोकुछ वहाँ दिखाई दे उसे दुनिया के सम्मुख रखना आसान नही। और यही समस्या है, जिसे हल करने के लिए बीसवी सदी का कहानी लेखक साहित्य क्षेत्र में उतरा है।

यह कहानी के विकास और विस्तार का सक्षिप्त इतिहास है। परन्तु गल्प रचना की विद्या कब शुरू हुई, और इसे किसने शुरू किया यह कहना कठिन है। भिन्न भिन्न कहानियाँ पढने और कई साल तक सोच-विचार करने के वाद मै इस परिणाम पर पहुँचा हूँ, कि जमीन की घास के समान गल्प-रचना की विद्या भी प्रत्येक देश में आपसे आप उत्पन्न हुई है, मगर अगुवा होने का सेहरा भारतवर्ष के सिर है, क्योकि सभ्यता ने सबसे पहले इसी पुण्यभूमि में आँख खोली। अन्धकार और अविद्या के उस जमाने में जब कि सकल ससार अशिक्षित था, प्राचीन आर्य्यो की इस प्राचीन भूमि में ज्ञान की गगा वहती थी, और जव सारी दुनिया सभ्यता से शून्य थी, भारत अभ्युदय और उन्नति की कठिन यात्रा समाप्त कर चुका था। यहाँ तक कि कहानियो के मामले में भी हम वहाँ पहुँच चुके थे, जो आज रूस और फ्रास का आदर्श है परन्तु किस तरह ? मै इसे सिद्ध करूँगा।

साहित्य-कला की दृष्टि से इस समय ससार में फ्रास और रूस सबसे आगे है, और जहाँ तक उपन्यास, कहानी और नाटक का सम्बन्ध है, रूस फ्रास से भी आगे निकल गया है। वहाँ आज-कल छोटी-छोटी कहानियो की एक नई प्रथा चली है। उनमें एक इशारा, एक शिक्षा, एक कसक होती है। आदमी पढता है और समझता है, और उछल पडता है। शब्द थोडे होते है, परन्तु लेखक अपना अभीष्ट कुछ इस तरह कह जाता है, कि पढनेवाले के दिल में एक चिनगारी रोशन हो जाती है। उदाहरणार्थ अग्रलिखित कहानी देखिए, जो रूस के एक सुप्रसिद्ध कहानी-लेखक ने लिखी है—

देवताओ का फैसला

(१)

प्रात काल महाराज उठा, और उसने आज्ञा दी, कि शाही दरवाजे के भिक्षुको को सम्मान से हमारे सामने पेश किया जाये।

उस रात उसने एक अनुपम सपना देखा था, और उसकी याद अभी तक उसकी आँखोमें चमक रही थी। इसलिए उसने उन भिक्षुको को कृपादृष्टि से देखा और उनमें से हर-एक को सोने की एक-एक सौ मोहर दान दी। सारे शहर में जय-जयकार होने लगा।

(२)

उसी शहर में एक गरीब किसान रहता था, जिसे दिन-रात के परिश्रम के बाद केवल खाने-पीने को ही प्राप्त होता था।

दोपहर के समय किसान ने अपनी स्त्री से कहा—"मेरा भाई मर गया है। अब उसके अनाथ बच्चे को भी हमें पालना होगा।"

"मगर" किसान की स्त्री ने कहा—"हम गरीब हैं। हमें तो दोनों समय खाना भी मुश्किल से मिलता है।"

किसान ने उत्तर दिया—"कोई चिन्ता नही। हम थोड़ा-थोडा करके तीनो खा लेंगे।"

(३)

रात को जब आकाश पर देवताओ की सभा हुई, और दिन का हिसाब-किताब पेश हुआ, तो उन्होंने निर्णय किया कि "किसान के दान के सामने महाराजा के दान का कुछ भी महत्व नही है।"

इस कहानी को यूरोप ने बेहद पसन्द किया है। उच्च कोटि की पत्रिकाओ ने लिखा है, बस यह कला की पराकाष्ठा है, अब इससे परे कोई क्या जायेगा? और वास्तव में यह कहानी सर्वाङ्ग-सुन्दर और सर्वगुणसम्पन्न है। इसे पढकर कला भी सिर मारने लग जाती है। मगर यह चीज दुनिया में पहली बार प्रकट हुई है, यह गलत है। महाभारत में एक कहानी आती है—

सोने का न्योला

(१)

अश्वमेध-यज्ञ की समाप्ति पर जब महाराज युधिष्ठिर ने अपने खजाने खाली कर दिये, और ब्राह्मणो को विदा का भोजन कराया, तो एक न्योला आकर रसोई में लेट गया। उसका आधा शरीर सोने का था, आधा माँस का था।

थोडी देर बाद वह निराश होकर उठा और क्रोध से बोला—"यह यज्ञ भी ठीक न हुआ।"

ब्राह्मणो को आश्चर्य हुआ। उन्होने पूछा–"बात क्या है?"

(२)

न्योला बोला–"कई वर्ष बीते भारत के एक प्रान्त में अकाल पडा, और लोग भूखो मरने लगे।"

एक ब्राह्मण को बडे परिश्रम से कुछ जौ मिले और पीसकर सत्तू बनाये। ब्राह्मण उसकी स्त्री उसका पुत्र और पुत्र-वधू सब खुश थे क्योकि उनको यह अन्न कई दिन भूखा रहने के बाद मिला था। वह खाना खाने बैठे थे, कि इतने में एक अतिथि ने द्वार पर आकर आवाज दी और कहा– "मै भूखा हूँ।" ब्राह्मणी ने उसे अपना भाग दे दिया, परन्तु अतिथि का पेट न भरा।

इसके बाद ब्राह्मण ने उसे अपने भाग के सत्तू दे दिये, परन्तु अतिथि अब भी भूखा था।

इसपर ब्राह्मण के पुत्र, और पुत्र-वधू ने अपने अपने भाग दे दिये, और अतिथि आशीर्वाद देता हुआ चला गया।

दूसरे दिन वहाँ चार लाशें पडी थी।

(३)

सत्तुओ की गध पाकर मै वहाँ चला गया। कुछ सत्तू रसोई में बिखरे हुए थे। मै वहाँ लेट गया और यह देखकर मुझे कैसा अचरज हुआ, कि मेरी देह में जहाँ जहाँ सत्तू लगे, वह सोने की बन गई। अब मै हर यज्ञ में जाता हूँ और रसोईघर में लेटता हूँ, कि शायद मेरी बाकी देह भी सोने की बन जाय। परन्तु मेरी मनोकामना पूरी नही होती, और मै समझ जाता हूँ कि यह यज्ञ भी ठीक नही हुआ और मै यही समझता रहूँगा, जब तक मेरा सारा शरीर सोने का न हो जाये।"

पाठक देखें वही भाव है, वही लिखने का ढग है, वही इशारा वही छिपी हुई शिक्षा। बल्कि महाभारत की कहानी कला की दृष्टि से अधिक सुरोचक है। और यह आज से पाँच हजार वर्ष पहले की बात है। गोया जहाँ रूस आज पहुँचा है, और जिस पर उसे बधाइयाँ दी जा रही है, वहाँ हम पांच हजार साल पहले पहुँच चुके है। और इतना ही नही, उपनिषदो की कहानियाँ इससे भी उच्च कोटि की है, और यह सारी दुनिया जानती और मानती है, कि उपनिषद् महाभारत से बहुत पुराने है। परन्तु

भारतवर्ष का दुर्भाग्य देखिए, आज हम ऐसी कला-पूर्ण कहानियो को समझ भी नही सकते न हमें उनमें कोई काव्य, कोई कला, कोई कल्पना दिखाई देती है। सम्भव है, फ्रास और रूस के मोती देखकर हमे भी अपने फेंके हुए जवाहरात का ध्यान आ जाये।

'तीर्थ-यात्रा' में मैंने इस प्रकार की एक गल्प 'ससार की सबसे बडी कहानी' दी है। देखें हिन्दी पाठक पसन्द करते है या नही। अगर उन्होने इस कहानी को पसन्द किया, तो मेरा विचार है, इसी ढग की कहानियो का सग्रह अलग 'प्रकाशित करूँ।

रामकुटिया
बुकडिपो, लाहौर

सुदर्शन

आशीर्वाद

(१)

लाजवन्ती के यहाँ कई पुत्र पैदा हुए; मगर सब-के-सब बचपन ही में मर गये। आखिरी पुत्र हेमराज उसके जीवन का सहारा था। उसका मुँह देखकर वह पहले बच्चो की मौत का गम भूल जाती थी। यद्यपि हेमराज का रङ्ग-रूप साधारण दिहाती बालको का-सा-ही था, मगर लाजवन्ती उसे सबसे सुन्दर समझती थी। मातृ-वात्सल्य ने आँखो को धोखे में डाल दिया था। लाजवन्ती को उसकी इतनी चिन्ता थी कि दिन-रात उसे छाती से लगाये फिरती थी; मानों वह कोई दीपक हो, जिसे बुझाने के लिए हवा के तेज झोके बार-बार आक्रमण कर रहे हो। वह उसे छिपा-छिपाकर रखती थी, कहीं उसे किसी की नजर न लग जाय। गाँव के लडके खेतो में खेलते फिरते है, मगर लाजवन्ती हेमराज को घर से बाहर न निकलने देती थी। और कभी निकल भी जाता, तो घबराकर ढूँढने लग जाती थी। गाँव की स्त्रियाँ कहतीं—"हमारे भी तो लडके है, तू जरा सी बात में यो पागल क्यो हो जाती है?" लाजवन्ती यह सुनती, तो उसकी आँखों में आँसू लहराने लगते। भर्राये हुए स्वर से उत्तर देती—"क्या कहूँ? मेरा जी डर जाता है!"

इस समय उसे अपने मरे हुए पुत्र याद आ जाते थे।

मगर इतना सावधान रहने पर भी हेमराज बुरी नजर से न बच सका। प्रातःकाल था, लाजवन्ती दूध दुह रही थी। इतने में हेमराज जागा और मुँह फुलाकर बोला—"मा!"

आवाज में उदासी थी, लाजवन्ती के हाथ से बर्तन गिर गया। दौडती हुई हेमराज के पास पहुँची, और प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरकर बोली—"क्यों हेम! क्या है बेटा? घबराया हुआ क्यो है तू?"

हेमराज की आँखो में आँसू डबडबा आये; रुक-रुक कर बोला—"सिर में दर्द होता है।"

बात साधारण थी; मगर लाजवन्ती का हृदय काँप गया। यही दिन थे, यही ऋतु, जब उसका पहला पुत्र मदन मरा था। वह भी इसी तरह बीमार हुआ था। उस समय भी लाजवन्ती ने उसकी सेवा-सुश्रूषा में दिन-रात एक कर दिया था। मगर जो होना होता है, उसे कौन मेट सकता है? निर्दयी मृत्यु ने लाजवन्ती का सर्वस्व छीन लिया। लाजवन्ती उस समय इस दुःख से अधमरी-सी हो गई थी। वही घटना इस समय उसकी आँखों के सामने फिर गई। क्या अब फिर....

लाजवन्ती के पैरो के नीचे से मिट्टी खिसकती-सी मालूम होने लगी। जिस तरह विद्यार्थी एक बार फेल होकर दूसरी बार परीक्षा में बैठते घबराता है, उसी तरह हेमराज के सिरदर्द से लाजवन्ती व्याकुल हो गई। गाँव में दुर्गादास वैद्य अच्छे अनुभवी थे। लोग उन्हें देवता समझते थे। सैकड़ो रोगी उनके हाथो से आरोग्य होते थे। आस-पास के गाँवो में उनका बड़ा नाम था। लाजवन्ती उड़ती हुई उनके पास पहुँची। वैद्यजी बैठे एक पुराना साप्ताहिक समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। लाजवन्ती को देखकर उन्होंने पत्र हाथ से रख दिया, और आँखो से ऐनक उतारकर बोले—"क्यों बेटी! क्या बात है?"

वैद्यजी इस गाँव के रहनेवाले न थे। अवस्था भी पचास से ऊपर थी। अतएव गाँव की बहू-बेटिएँ उनसे परदा न करती थी। लाजवन्ती ने चिंतित-सी होकर उत्तर दिया—"हेम बीमार है।"

वैद्यजी ने सहानुभूति के साथ पूछा—"कब से?"

"आज ही से; कहता है, सिर में दर्द है।"

"बुखार तो नही?"

"मालूम तो नहीं होता। आप चलकर देख लेते, तो अच्छा था।"

वैद्यजी का मनोरथ सिद्ध हुआ। उन्होने जल्दी से कपड़े पहने, और लाजवन्ती के साथ हो लिये। हेमराज बुखार से बेसुध पड़ा था।

वैद्यजी ने नाडी देखी, माथे पर हाथ रक्खा, और फिर कहा–"कोई चिंता नहीं। दवा देता हूँ, बुख़ार उतर जायगा।"

लाजवन्ती के डूबते हुए हृदय को सहारा मिल गया। उसने दुपट्टे के आँचल से अठन्नी खोली, और वैद्यजी की भेंट कर दी। वैद्यजी ने मुँह से 'नहीं-नहीं' कहा, मगर हाथों ने मुँह का साथ न दिया।

(२)

कई दिन बीत गये, हेम का बुख़ार नहीं घटा। वैद्यजी ने कई दवाइयाँ बदलीं; परन्तु किसी ने अपना असर न दिखाया। लाजवन्ती की चिंता बढ़ने लगी। वह रात-रातभर उसके सिरहाने बैठी रहती। लोग आते और धीरज दे-देकर चले जाते; परन्तु लाजवन्ती का मन उनकी बातो की ओर न था। वह अपने मन की पूरी शक्ति से हेम की सेवा में लगी रहती थी।

एक दिन उसने वैद्य से पूछा–"क्या बात है, जो यह बुख़ार नहीं उतरता?"

वैद्यजी ने एक कटाक्ष-विशेष से, जो प्रायः वैद्य लोग ही किया करते है, उत्तर दिया–"मियादी बुखार है।"

लाजवन्ती ने तड़पकर पूछा–"मियादी बुखार क्या?"

"अपनी मियाद पूरी करके उतरेगा।"

"पर कब तक उतरेगा?"

"इक्कीसवें दिन उतरेगा, इससे पहले नहीं उतर सकता।"

"आज ग्यारह दिन हो गये है।"

"बस दस दिन और है। किसी तरह यह दिन निकाल दो, भगवान भला करेगा।"

लाजवन्ती का माथा ठनका। हिचकिचाते हुए बोली–"कोई अंदेसा तो नहीं है? सच-सच बता दीजिए।"

वैद्यजी थोडी देर चुप रहे। इस समय वह सोच रहे थे कि उसे सच-सच बतायें, या न बतायें। आखिर बोले–"देखो बुखार दुस्साध्य-सा

है; हानिकारक भी हो सकता है। मेरी सम्मति में हेम के पिता को बुलवा लो।"

लाजवन्ती सहम गई। रेत के स्थलों को मीठे जल की नदी समझकर जब हरिण पास पहुँच कर देखता है कि नदी अभी तक उतनी ही दूर है, तो जो दशा उसके मन की होती है, वही दशा इस समय लाजवन्ती की हुई। उसे आशा नहीं निश्चय हो गया था कि हेम एक-आध दिन में ठीक हो जायगा। उसी तरह खेलता फिरेगा, उसी तरह नाचता फिरेगा। माँ देखेगी खुश होगी। लोग बधाइयाँ देंगे। मगर वैद्य की बात सुनकर उसका दिल बैठ गया। उसका पति रामलाल सचदेव मुलतान में नौकर था। उसने उसे पत्र लिखा, वह तीसरे दिन पहुँच गया। इलाज दुगनी सावधानी से होने लगा। यहाँ तक कि दस दिन और भी बीत गये। अब इक्कीसवाँ दिन सिर पर था। लाजवन्ती और रामलाल दोनो घबरा गये। हेम की देह अभी तक आग की तरह तप रही थी। सोचने लगे, क्या बुखार एकाएक उतरेगा?

वैद्य ने आकर नाड़ी देखी, तो घबराकर बोले—"आज की रात बड़ी भयानक है। सावधान रहना, बुखार एकाएक उतरेगा।"

(३)

लाजवन्ती और रामलाल दोनो के प्राण सूख गये। वैद्य के शब्द किसी आनेवाले भय की पूर्व-सूचना थे। रामलाल दवायें सँभालकर बेटे के सिरहाने बैठ गये। परन्तु लाजवन्ती के हृदय को कल न थी। उसने सध्या-समय थाल में घी के दीपक जलाये और मन्दिर की ओर चली। इस समय उसे आशा अपनी पूरी जीवन-सामग्री के साथ सामने नाच करती हुई दिखाई दी। लाजवन्ती अनन्यभाव से मन्दिर में पहुँची, और देवी के सामने गिरकर देर तक रोती रही। जब थककर उसने सिर उठाया, तो उसका मुख-मंडल शांत था, जैसे तूफान के बाद समुद्र शांत हो जाता है। उसको ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई दिव्य शक्ति उसके कान में कह रही है कि तूने आँसू बहाकर देवी के

पाषाण-हृदय को पिछला दिया है। परन्तु उसने इतने ही पर संतोष न किया; मातृ-स्नेह ने भय को चरम-सीमा पर पहुँचा दिया था। लाजवन्ती ने देवी की आरती उतारी, फूल चढाये, मन्दिर की परिक्रमा की और प्रेम के बोझ से कांपते हुए स्वर से मानता मानी कि, "देवी माता! मेरा हेम बच जाय, तो मैं तीर्थ-यात्रा करूँगी!"

यह मानता मानने के बाद लाजवन्ती को ऐसा जान पड़ा, जैसे उसके दिल पर से किसी ने कोई बोझ हटा लिया है, जैसे उसका संकट टल गया है, जैसे उसने देवताओ को खुश कर लिया है। उसे निश्चय हो गया कि अब हेम को कोई भय नहीं है। लौटी, तो उसके पाँव भूमि पर न पडते थे। उसके हृदय-समुद्र में आनद की तरगें उठ रही थीं। उड़ती हुई घर पहुँची, तो उसके पति ने कहा—"लो बधाई हो, तुम्हारा परिश्रम सफल होने को है; बुखार धीरे-धीरे उतर रहा है।"

लाजवन्ती के मुख पर प्रसन्नता थी और नेत्रो में आशा की झलक। झूमती हुई बोली—"अब हेम को कोई डर नहीं है। मैं तीर्थ-यात्रा की मानता मान आई हूँ।"

रामलाल ने तीर्थ-यात्रा के खर्च का अनुमान किया, तो हृदय बैठ गया, परन्तु पुत्र स्नेह ने इस चिंता को देर तक न ठहरने दिया। उसने बादलो से निकलते हुए चन्द्रमा के समान मुस्कराकर उत्तर दिया— "अच्छा किया, रुपये का क्या है, हाथ की मैल है, आता है, चला जाता है। परमेश्वर ने एक लाल दिया है, वह जीता रहे। यही हमारी दौलत है।

लाजवन्ती ने स्वामी को सुला दिया और आप रात-भर जागती रही। उसके हृदय पर ब्रह्मानंद की मस्ती छा रही थी। प्रभात हुआ, तो हेम का बुखार उतर गया था। लाजवन्ती के मुख-मडल से प्रसन्नता टपक रही थी, जैसे सध्या के समय गौओ के स्तनो से दूध की बूँदें टपकने लगती हैं।

वैद्यजी ने आकर देखा तो उनका मुख-मंडल भी चमक उठा।

अभिमान से सिर उठाकर बोले—"अब कोई चिन्ता नहीं। तुम्हारा बच्चा बच गया।"

लाजवन्ती ने हेम की देह पर हाथ फेरते हुए कहा—"क्या से क्या हो गया है।"

वैद्य ने लाजवन्ती की ओर देखा और रामलाल से बोले—"यह सब इसीके परिश्रम का फल है।"

लाजवन्ती ने उत्तर दिया—"देवी माता की कृपा है, अथवा आपकी दवा के प्रभाव का फल है। मैंने क्या किया है, जो मेरे परिश्रम का फल है?"

"मैं तुम्हें दूसरी सावित्री समझता हूँ। उसने मरे हुए पति को जिलाया था, तुमने पुत्र को मृत्यु के मुँह से निकाला है। तुम यदि दिन-रात एक न कर देतीं, तो हेम का बचना सर्वथा असंभव था। यह सब तुम्हारी मेहनतों का फल है। भगवान प्रसन्न हो गया। बच्चा बचा नहीं, दूसरी बार पैदा हुआ है।"

रामलाल के होठों पर मुस्कराहट थी, आँखों में चमक। इसके सातवें दिन वह अपनी नौकरी पर चले गये, और कहते गये कि तीर्थ-यात्रा की तैयारी करो।

(४)

तीन महीने बीत गये; लाजवन्ती तीर्थ-यात्रा के लिए तैयार हुई। अब उसके मुख पर फिर वही आभा थी; आँखों में फिर वही चमक, दिल में फिर वही खुशी। हेम आँगन में इस प्रकार चहकता फिरता था, जैसे फूलों पर बुलबुल चहकता है। लाजवन्ती उसे देखती, तो फूली न समाती थी। तीर्थयात्रा से पहले की रात को उसके आँगन में सारा गाँव इकट्ठा हो रहा था। झाँझें और करतालें बज रही थीं। ढोलक की थाप गूँज रही थी। स्त्रियाँ गाती थीं, बजाती थीं, शोर मचाती थीं। दूसरी तरफ कहीं पूरियाँ बन रही थीं, कहीं हलुआ। उनकी सुगंध से दिमाग तर हुए जाते थे। लाजवन्ती इधर से उधर और

उधर-से-इधर आ-जा रही थी, मानो उसके यहाँ व्याह हो। एक ओर निचिते साधु सुलफे के दम लगाकर गाँव की हवा को शुद्ध कर रहे थे। उनकी ओर गाँव के लोग इस तरह देखते थे, जैसे किसान तहसीलदार की ओर देखते है। आँखो में श्रद्धा-भाव के स्थान में भय और आतक की मात्रा कहीं अधिक थी। लाजवन्ती से कोई मैदा माँगता था, कोई घी। कोई कहता था, हलवाई खाँड़ के लिए चिल्ला रहा है। कोई पूछता था, अमचूर का वरतन कहाँ है। कोई और समय होता, तो लाजवन्ती घवरा जाती। पर इस समय उसके मुख पर जरा घवराहट न थी। सोचती थी, कैसा सौभाग्य है, जो यह दिन मिला। आज घवराहट कैसी?

परन्तु सारा गाँव प्रसन्न हो, यह वात न थी। वहीं स्त्रियो में बैठी हुई एक वूढी स्त्री असीम दुख में डूवी हुई थी। यह लाजवन्ती की पडोसिन हरो थी। अत्यत दुःख के कारण उसके कंठ से आवाज न निकलती थी। नगर होता तो वह इस उत्सव में कभी सम्मिलित न होती। मगर गाँव की वात थी, न आती, तो उँगलियाँ उठने लगती। आनदमय हास-परिहास के वीच में उसका मस्तिष्क दुख और शोक के कारण ऐसे खौल रहा था, जैसे ठडे समुद्र में गरम जल का स्रोत उवल रहा हो। वह स्रोत वाकी समुद्र से कितना परे, कितना अलग होता है?

इसी तरह रात के चार वज गये; लोग खा-पीकर आराम करने लगे। जो वच रहा, वह गरीवो को वाँट दिया गया। लाजवन्ती ने लोगो को विदा किया और चलने की तैयारी में लगी। उसने एक टीन के वक्स में जरूरी कपडे रक्खे, एक विस्तर तैयार किया, कंठ में लाल रग की सूती माला पहनी, माथे पर चन्दन का लेप किया। गऊ पडोसिन को सौंपी, और उससे वार-वार कहा—"इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना। जा रही हूँ, मगर मेरा मन अपनी गऊ में रहेगा।" सहसा किसी की सिसकी भरने की आवाज सुनाई दी। लाजवन्ती के कान खड़े हो गये। उसने चारों तरफ देखा, मगर कोई दिखाई न दिया।

इस समय सारा गांव सुख-स्वप्न में अचेत पड़ा था। यह सिसकी भरने-वाला कौन है? यह सोचकर लाजवन्ती हैरान रह गई। वह आंगन में निकल आई और ध्यान से सुनने लगी। सिसकी की आवाज़ फिर सुनाई दी।

लाजवन्ती छत पर चढ़ गई, और पड़ोसिन के आंगन में झुककर ज़ोर से बोली—"मां हरो!"

कुछ देर तक सन्नाटा रहा। फिर एक चारपाई पर से उत्तर मिला—"कौन है, लाजवन्ती?"

आवाज़ में आंसू मिले हुए थे।

लाजवन्ती जल्दी से नीचे उतर गई, और हरो के पास पहुँच कर बोली—"मां, क्या बात है? तू रो क्यों रही है?"

हरो सचमुच रो रही थी। परन्तु अपना दुःख लाजवन्ती के सामने कहते हुए उसके नारी-दर्प को बट्टा लगता था, इसलिए अपनी वास्तविक अवस्था को छिपाती हुई बोली—"कुछ बात नहीं।"

"तू रो क्यों रही हो?"

हरो के रुके हुए आंसुओं का बांध टूट गया, उसका दुःखी हृदय सहानुभूति की एक चोट को भी सहन न कर सका। वह सिसकियां भर-भर कर रोने लगी।

लाजवन्ती ने फिर पूछा—"मां! बात क्या है, जो तू इस समय रो रही है? मैं तेरी पड़ोसिन हूँ, मुझसे न छुपा।"

हरो ने कुछ उत्तर न दिया। वह सोच रही थी कि इसे बताऊँ या न बताऊँ। प्रभात हो चला था; कुछ-कुछ प्रकाश निकल आया था। लाजवन्ती चलने के लिए आतुर हो रही थी। मगर हरो को क्या दुःख है, यह जाने बिना चले जाना उसके लिए कठिन था। उसने तीसरी बार फिर पूछा—"मां बता दो ना, तुम्हें क्या दुःख है?"

हरो ने दुःखी होकर कहा—"क्या तुम उसे दूर कर दोगी?"

"हो सका, तो दूर कर दूंगी।"

"यह असभव है।"

"संसार में असंभव कोई बात नहीं, भगवान सब कुछ कर सकता है।"

हरो थोड़ी देर तक चुप रही; फिर धीरे से बोली—"बेटी का दुःख खा रहा है। रात-रात भर रोती रहती हूँ। जाने यह नाव कैसे पार लगेगी।"

"यह क्यों? उसके ब्याह का खर्च तो तुम्हारे जेठ ने देना मंजूर कर लिया है।"

"ऐसे भाग होते तो रोना काहे का था।?"

लाजवन्ती ने अकुलाकर पूछा—"तो क्या यह झूठ है?"

"बिलकुल झूठ भी नहीं। उसने दो सौ रुपये के गहने बनवा दिये हैं; मगर मिठाई आदि का प्रबन्ध नहीं किया। अब चिंता यह है कि बारात आयेगी, तो उसके सामने क्या धरूँगी? बाराती मिठाई माँगेंगे, पूरियाँ माँगेंगे, हलवा माँगेंगे। यहाँ सूखे सत्तू खिलाने की भी हिम्मत नहीं। यही सोच-सोचकर सूखती जाती हूँ।"

लाजवन्ती ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—"क्या गाँव के लोग एक निर्धन ब्राह्मणी की कन्या का ब्याह नहीं कर सकते? और वह उनकी दया न होगी, धर्म होगा।"

हरो की आँखें भर आईं। वह इस समय निर्धन थी, परन्तु कभी उसने अच्छे दिन भी देखे थे। लाजवन्ती के प्रस्ताव से उसे अत्यंत दुःख हुआ, जैसे नया-नया भिखारी गालियाँ सुन कर पृथ्वी में गड जाता है। उसने धीरे से कहा—"बेटी! यह अपमान न देखा जायगा।"

"परन्तु इस तरह तो गाँव-भर की नाक कट जायगी।"

हरो ने बात काटकर कहा—"मैं भी तो इसे सहन नहीं कर सकूँगी। किसी के सामने हाथ फैलाना बुरा है।"

"तो क्या करोगी? कन्या कुँवारी रक्खोगी?"

"भगवान की यही इच्छा है, तो मेरा क्या वस है? कहीं निकल जाऊँगी। न कोई देखेगा न बात करेगा।"

लाजवन्ती ब्राह्मणी की करुणा-जनक अवस्था देखकर काँप गई।

उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे कोई कह रहा है कि अगर यह हो गया, तो ईश्वर का कोप गाँव भर को जलाकर ख़ाक कर देगा। लाजवन्ती अपने आपको भूल गई। उसका हृदय दु:ख से पानी-पानी हो गया! उसने जोश से कहा—"चिन्ता न करो, तुम्हारा यह सकट मैं दूर कर दूगी। तेरी बेटी का ब्याह होगा, और बारात के लोगों को मिठाई मिलेगी। तेरी बेटी तेरी ही बेटी नहीं है, मेरी भी है।"

हरो ने वह सुना, जिसकी उसे इच्छा थी, परन्तु आशा न थी। उसके नेत्रो में कृतज्ञता के आँसू छलकने लगे। लाजवन्ती तीर्थयात्रा के लिए अधीर हो रही थी। वह सोचती थी—हरद्वार, मथुरा, वृंदावन के मन्दिरों को देखकर हृदय कली की तरह खिल जायगा। मगर जो आनंद उसे इस समय प्राप्त हुआ, वह उस कल्पित आनंद की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़-चढ़कर था। वह दौड़ती हुई अपने घर गई, और संदूक से दो सौ रुपये लाकर हरो के सामने ढेर कर दिये। यह रुपये जमा करते समय वह प्रसन्न हुई थी, पर उन्हें देते समय उससे भी अधिक प्रसन्न हुई। जो सुख त्याग में है, वह ग्रहण में कहाँ ?

(५)

लाजवन्ती के तीर्थयात्रा का विचार छोड़ देने पर सारे गाँव में आग-सी लग गई। लोग कहते थे लाजवन्ती ने बहुत बुरा किया। देवी माता का क्रोध उसे नष्ट कर देगा। स्त्रियाँ कहती थीं—किस शेखी पर रात को रतजगा किया था? साठ-सत्तर रुपये ख़र्च हो गये, अब घर में बैठ गई है। नहीं जाना था, तो इस दिखाव की क्या आवश्यकता थी? कोई कहती थी—देवी-देवताओ के साथ यह हँसी मजाक अच्छी नहीं। ले-देकर एक लड़का है, उसकी खैर मनाये। जो बूढी थीं, वे माला की गुरियाँ फेरते-फेरते बोलीं—कलजुग का पहरा है, जो न हो जाय, सो थोड़ा! ऐसा तो आज तक नहीं सुना था! आज तक सुनते थे, आदमी आदमी से बात करके बदल जाते हैं। अब देवताओ से बात करके भी बदलने लगे। पर असली भेद का किसी को भी पता न

था। धीरे-धीरे यह बात लाजवन्ती के कानों तक भी जा पहुँची। पहले तो उसने उनकी कुछ परवा नहीं की, एक कान से सुना, दूसरे कान से निकाल दिया। परन्तु जब सब ओर यही चर्चा और यही बात सुनी, तो उसका चित्त भी डाँवाडोल होने लगा। हवा ने झक्कड़ का रूप धारण कर लिया था। अब मुसाफिर घबराने लगा, अब उसका मन डोलने लगा।

लाजवन्ती सोचती थी—मैंने बुरा क्या किया? एक गरीब ब्राह्मणी की बेटी के विवाह में सहायता देना क्या देवी को पसन्द नहीं? और मैंने तीर्थयात्रा का विचार छोड़ नहीं दिया, केवल कुछ काल के लिए स्थगित किया है। इस पर देवी-देवता गुस्से क्यो होने लगे? मगर दूसरा विचार उठता कि मैंने सचमुच भूल की। देवी-देवताओ की भेंट किसी आदमी को देना अपराध नहीं, तो और क्या है? यह विचार आते ही उसका कलेजा काँप जाता और हेम के विषय में भयानक संशय उत्पन्न होने लग जाते। संसार बुराइयों पर पछताता है, लाजवन्ती भलाई पर पछता रही थी। दिन का चैन उड गया, रात की नीद हराम हो गई। उसे वहम हो गया कि अब हेम की कुशल नही। उसे खेलता देखती, तो उसके हृदय पर कटारियाँ चल जाती थीं। बुरे-बुरे विचार आते थे। जी डरता था, हिम्मत काँपती थी।

इसी तरह कई दिन बीत गये। गाँव में चहल-पहल दिखाई देने लगी। हलवाई की दूकान पर मिठाइयाँ तैयार होने लगीं। गाँव की कुवाँरी कन्याओ के हाथो में मेंहदी रची हुई थी। रात के बारह-बारह बजे तक हरो की छत पर ढोलक बजती रहती, और स्त्रियो के दिहाती गीतों से सारा गाँव गूंजता रहता। एक वह दिन था, जब लाजवन्ती प्रसन्न थी और हरो दुखी थी। आज हरो के यहाँ चहल-पहल थी, मगर लाजवन्ती के यहाँ उदासी बरस रही थी। समय के फेर ने काया-पलट कर दी थी।

रात का समय था, मन्दिर में घटे बज रहे थे। लाजवन्ती ने आरती का थाल उठाया और पूजा के लिए चली। मगर दरवाजे पर

पहुँचकर पाँव रुक गये। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो देवी की मूर्ति उसे दण्ड देने के लिए नेत्र लाल किये खड़ी है। लाजवन्ती का कलेजा धड़कने लगा। वह डरकर दरवाजे पर बैठ गई और रोने लगी। जिस प्रकार दुर्बल विद्यार्थी को परीक्षा के कमरे में जाने का साहस नही होता। पाँव आगे रखता है, दिल पीछे रह जाता है।

सहसा उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कोई प्रार्थना कर रहा है। लाजवन्ती का रोम-रोम कान बन गया। उसे निश्चय हो गया कि इस प्रार्थना का अवश्य ही उसके साथ सम्बन्ध है, और वह गलती पर न थी। कोई कह रहा था—

"देवी माता! उसे सदा सुहागिन बनाओ। उसके बेटे को चिरंजीव रक्खो! उसने एक असहाय ब्राह्मणी का मान रक्खा है, तुम उसको इसका फल दो! उसके बेटे और पति का बाल भी बाँका न हो! यह एक बूढ़ी ब्राह्मणी की प्रार्थना है, इसे सुनो और स्वीकार करो। जिस तरह उसने मेरा कलेजा ठडा किया है, उसी तरह उसका भी कलेजा ठडा रक्खो।"

यह ब्राह्मणी हरो थी। लाजवन्ती के रोम-रोम में हर्ष की लहर दौड़ गई। उसके सारे सन्देह धुएँ के बादलो की तरह तितर बितर हो गये। वह रोते हुए आगे बढी, और बूढ़ी ब्राह्मणी के पैरो से लिपट गई।

रात को स्वप्न में वह फिर देवी के सम्मुख थी। एकाएक देवी की मूर्ति ने अपने सिंहासन से नीचे उतर कर लाजवन्ती को गले से लगा लिया, और कहा—"तूने एक गरीब की सेवा की है, गोया मेरी सेवा की है। मै तुझसे खुश हूँ, तेरे काम से खुश हूँ। लोग तीर्थयात्रा करते है, तूने महातीर्थ-यात्रा की है। सेवा तीर्थयात्रा से बढ़कर है।"

लाजवन्ती की आँख खुल गई। इस समय उसे ऐसी प्रसन्नता प्राप्त हुई, जैसी आज तक कभी न हुई थी। आज उसने पूजा का रहस्य पा लिया था।

अपनी तरफ देखकर

(१)

मेरे दफ्तर के क्लर्कों में साधुराम सबसे जूनियर था। उसका मासिक वेतन केवल पच्चीस रुपये था, मगर उसका काम सबसे अधिक और सबसे सुथरा होता था। मैंने उसे कभी दफ्तर में देर करके आते नहीं देखा, न मैंने कभी उसके काम में त्रुटि ही पाई। दस से चार बजे तक सिर नीचा किये वह बराबर अपने काम में लगा रहता था। कार्य्य-वशात् अगर मैं कभी बाहर चला जाता तो सब क्लर्क काम छोड़कर बातें करने लग जाते, पर साधुराम इसे अधर्म समझता था, वह उस समय भी बराबर अपने कागजों पर झुका रहता था। मैंने उसे कभी किसी से लड़ते-झगड़ते नहीं देखा। वह ऐसा भलामानस और सज्जन पुरुष था कि चपरासियों को भी "तू" कहकर नहीं बुलाता था। कई बार मैंने साधुराम को चपरासियों से कोई काम कराने के लिए कहा परन्तु उसे उसने आप ही कर लिया। मैं इसे दफ्तर का अपमान समझता था और साधुराम को डाँट देता था, परन्तु वह इसे भी चुपचाप सहन कर लेता था। इतना ही नहीं, उसमें और भी कई गुण थे। वेतन थोड़ा होने पर भी उसके वस्त्र दूसरों से साफ होते थे, और मुखमण्डल खिला हुआ फूल। मैंने उसे कभी उदास नहीं देखा, परेशान नहीं देखा, थका-हारा नहीं देखा। दफ्तर के दूसरे आदमी प्राय. अपना काम भी उसे सौंप दिया करते थे। कोई और होता तो जल कर कोयला हो जाता मगर साधुराम के मस्तक पर बल न पड़ता था। वह उसे भी ऐसे परिश्रम और मनोयोग से करता जैसे यह बेगारी न हो, उसका निजी काम हो। उसके इन गुणों ने मेरे हृदय में अपना स्थान बना लिया। मैं उसे अपने कमरे में बुलाने लगा। अब मुझे मालूम हुआ कि उसका हृदय आत्म-ज्ञान का सरोवर है। बातचीत करते समय वह कभी रोब में नहीं

आता था—जिस बात पर अड़ जाता उससे उसे हटाना आसान न था। मैं ज्यों-ज्यों उससे अधिक परिचित होता गया, उसका प्रेम हृदय में घर करता गया, यहाँ तक कि मैंने उसे अपने मकान पर भी बुलाना आरम्भ कर दिया।

अब प्रतिदिन सायङ्काल को मेरे यहाँ आता था और मुझसे घण्टों बातचीत करता रहता था। आठ दस दिन ही के बाद मेरे लड़के बालों को उससे इतना प्रेम हो गया कि साँझ होते ही द्वार पर जा खड़े होते और यदि उसे आने में कुछ भी विलम्ब हो जाता तो व्याकुल से हो जाते। परन्तु साधुराम आत्मसम्मान को हाथ से नहीं जाने देता था। मेरी सम्मत्ति में वह किसी दफ्तर का इनचार्ज (Incharge) होने के योग्य था, परन्तु प्रारब्ध ने उसे कहाँ फेंक रक्खा था। सोना पीतल की खान में पड़ा था, और सोने को शिकायत न थी। उलटी पीतल को शिकायत थी।

(२)

मुझे दफ्तर में आये हुए एक वर्ष हो गया। इस बीच में कई स्थान खाली हुए, जिनके लिए जूनियर क्लर्कों ने प्रार्थना-पत्र भेजे, परन्तु साधुराम ने ऐसी कोई कोशिश न की। मैं जानता था कि साधुराम उनके लिए सब तरह से उपयुक्त है, चाहता था कि अवसर मिले तो उसे किसी उच्च पद पर नियत कर दूँ; मगर वह इतना सीधा-सादा और ऐसा सन्तोषी था कि उसने एक बार भी मुझसे नहीं कहा कि मेरा ध्यान रखना। पहले-पहल मैंने इसे अभिमान समझा और तरक्की का हर एक अवसर दूसरों को देता गया। साधुराम पच्चीस ही पर पड़ा रहा। वह मेरे पास प्रतिदिन आता था, मुझसे घण्टों बातचीत करता रहता था, मगर इस विषय में उसने एक बार भी कहने को आवश्यकता नहीं समझी। यहाँ तक कि उसके अभिमानी होने के बारे में मेरी सम्मति बदल गई, और मैंने निश्चय कर लिया कि अबकी बार साधुराम का ध्यान रक्खूंगा और जो जगह खाली होगी, उसे दूंगा।

सौभाग्य से मुझे अधिक प्रतीक्षा न करनी पड़ी। रिकार्ड ब्रांच का एक क्लर्क छः महीने की छुट्टी पर जा रहा था। उसका वेतन ५० रु० था। दफ्तर के कई क्लर्कों ने अर्जियां दीं और अपने अपने हक़ पर जोर दिया। मगर साधुराम इस बार भी चुप रहा, जैसे उसे इस घटना का ज्ञान ही न था। वह उसी तरह शान्त था, परन्तु मुझे शान्ति न थी। सन्ध्या का समय था, वह नियमानुसार मेरे घर आया। मैंने छूटते ही कहा—"साधुराम! तुमने कुछ सुना?"

साधुराम ने बैठते हुए पूछा—"क्या?"

"गुलाम नबी छः मास की छुट्टी पर जा रहा है।"

साधुराम का मुखमण्डल तमतमा उठा। जैसे किसी ने उसे गाली दे दी हो, फिर भी सँभाल कर बोला—"जी हां मैंने सुना है। पर बात क्या है?"

"उसके लिए बहुत से क्लर्कों ने प्रार्थना पत्र भेजे हैं।"

"जी।"

"परन्तु तुमने कोई कोशिश नहीं की। यह तुम्हारा हक है। अरजी भेजो।"

साधुराम ने बेपरवाई से उत्तर दिया —"मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं।"

मुझे आश्चर्य हुआ—"क्या कहते हो? तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं?"

"रत्ती भर भी नहीं।"

"तो उन्नति के सारे अवसर हाथ से खो दोगे?"

"यह आपका काम है। गवर्नमेंट ने यह उत्तरदायित्वपूर्ण अधिकार आपको दिया है। अब यह निर्णय करना आपका काम है, और काम ही नहीं प्रत्युत कर्त्तव्य है, कि वेतनवृद्धि का जो अवसर आये, उससे वही आदमी लाभ उठाये जो वास्तव में उसका अधिकारी हो। यदि आप अपने इस कर्त्तव्य का ध्यान नहीं रखते तो परमात्मा के दरबार में अपराधी होंगे। मुझे प्रार्थना-पत्र भेजने की आवश्यकता

नहीं। मेरा काम काम करना है, आपका काम काम देखना है। मैं अपना काम करता हूँ, आप अपना काम देखें।

मैं साधुराम को नेक, परिश्रमी और आत्माभिमानी पुरुष समझता था, मगर वह ऐसा निर्भय और खरी खरी मुँह पर सुनानेवाला भी होगा, इसकी मुझे स्वप्न में भी आशा न थी। उसकी इन बातों ने उसकी पदवी मेरी आँखों में और भी ऊँची कर दी। मैं लज्जित होकर बोला—"साधुराम! तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब भूल न होगी—यह जगह तुम्हीं को मिलेगी। और तुम्हें अरजी देने की भी जरूरत नही।"

साधुराम बोला—"इसका कारण यह तो नहीं कि मेरा आपके यहाँ आना जाना बना हुआ है। यदि यह जगह मुझे इस वजह से मिलती है, तो मैं इसे कभी स्वीकार न करूंगा। हाँ, अगर सचमुच आप यह समझते हैं कि मेरा काम अच्छा है, और मैं इस वृद्धि के योग्य हूँ, तो दूसरी बात है।"

क्या शब्द थे! मेरे हृदय में तीर से चुभ गये, सिर झुकाकर बोला—"मेरा सचमुच यही विचार है कि इससे पहले तुम्हारे साथ अन्याय होता रहा है। अब यह Chance हाथ आया है, इसे न जाने दूँगा।"

साधुराम ने नम्रता से—उस नम्रता से जिसमें आत्मगौरव का भाव झलकता था—कहा—"Thank you" और सिर झुका लिया।

अँगरेजी सभ्यता के यह दिखावे के शब्द मैंने कई बार सुने थे, और हर बार यही अनुभव किया था कि यह निरर्थक हैं—सर्वथा व्यर्थ और निष्फल, परन्तु वही शब्द साधुराम के मुँह से सुनकर ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी को कुबेर का धन मिल गया हो।

दूसरे दिन गुलाम नबी की जगह साधुराम नियुक्त हो गया। दफ्तर में हलचल-सी मच गई। सारे क्लर्क साधुराम के दुश्मन हो गये। शायद उनका यह खयाल था, कि साधुराम काम करने के लिए है, और वह वेतन-वृद्धि लेने के लिए। मगर मेरे इस निर्णय ने उनका यह भ्रम दूर कर दिया। अब वह साधुराम को सताने लगे, जलाने लगे, तंग करने

लगे। कोई कहता, इससे जरा सोच समझ कर बात करना, सुपरिन्टेन्डेन्ट की मूँछ का बाल है। कोई कहता, वेतन-वृद्धि का मूलमन्त्र चापलूसी है, यह बात साधुराम ने सीख ली है। कोई कहता, हाकिम के बच्चों को मिठाई खिलाई जाय, तो हाकिम दयालु हो जाता है। कोई कहता, हम तो इसे बडा धर्मात्मा समझते थे, मगर यह पता न था कि इस किरण के पीछे ऐसा अन्धकार भी हो सकता है। कोई कहता, मनुष्य की प्रकृति को समझना आसान नहीं, यह बात साधुराम ने सिखा दी। मगर साधुराम पर इस आँधी का जरा भी असर न पडा। वह जिस तरह पहले प्रफुल्ल-वदन, शान्त-स्वभाव, प्रसन्न-चित रहता था, उसी प्रकार अब भी रहता। न उसे पदवृद्धि ने अभिमानी बनाया, न क्लर्कों के विरोध ने दुखी किया—मेरी आँखो में उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ गई। खयाल आया, कैसा पवित्र जीवन है, जो सदा एकरस चला जाता है। शत्रुता का जिस पर कोई प्रभाव नही, पक्षपात से रहित, सदैव सब अवस्थाओं में प्रफुल्ल-वदन। जिसके मस्तक पर कभी बल नही आता, और जो आत्म-सयम में ऐसा अचल और अटल है, जैसे समुद्र में चट्टान।

(३)

मगर यह वृद्धि साधुराम को रास न आई। उसकी स्त्री बीमार रहने लगी। साधुराम में जहाँ और गुण थे, वहाँ उसमे यह गुण भी था कि वह अपनी स्त्री पर प्राण देता था। वह सब कुछ सह सकता था, परन्तु स्त्री की आँख में आँसू देखकर उसके हृदय में हलचल मच जाती थी—वह अधीर हो जाता था। कई मास तक चिकित्सा होती रही, मगर रोग दूर न हुआ। साधुराम घबरा गया, जिस प्रकार तूफान में नौका डोलने लगती है। अब उसके चेहरे पर वह कान्ति न थी, आँखो में वह तेज न था। फूल रह गया था, मगर उसका रूप-लावण्य कहाँ उड गया? यह किसी को भी मालूम न हो सका। मैं उसे देखता तो हृदय व्याकुल हो जाता। साधुराम अब वह पहला साधुराम न था। वह दफ्तर में अब भी आता था, काम अब भी करता था, मगर वह

पहली बात न थी। जिस सन्तोष की मूर्ति ने वेतन-वृद्धि के अवसर हाथ से जाते देखकर मुँह न खोला था, जिस गम्भीर सूरमा ने दफ्तर के क्लर्कों की सर्वथा अनुचित नोंक-झोंक पर अपनी आन न छोडी थी, वही साधुराम अब हर रोज मेरे पास आकर छुट्टी के लिए मिन्नतें करता था। और मैं-हाँ मैं—उसके इस परिवर्तन पर प्रसन्न था, क्योंकि मैं उसे देवता नहीं, आदमी देखना चाहता था; और मानवचरित्र का गुण है कि बडे-से-बड़ा धैर्यधारी हृदय भी एक विशेष सीमा पर पहुँचकर विचलित हो जाता है। देवता में गुण ही गुण होते हैं, आदमी में कमजोरियाँ भी होती हैं। आदमी को आदमी की कमजोरियाँ भी लगती हैं।

इसी तरह कई महीने बीत गये। साधुराम अपनी स्त्री की सेवा-सुश्रूषा में तन्मय हो रहा था। उसका मुँह कुम्हला गया था, हँसी-खुशी मर चुकी थी, फिर भी सेवा-सुश्रूषा में लगा हुआ था। दिन भर दफ्तर में काम करता, रात को स्त्री के सिरहाने बैठता, स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। मगर उसका इधर ध्यान न था। वह अपने प्राणो की सम्पूर्ण शक्ति से अपनी स्त्री की चिकित्सा कर रहा था। मैं उसे प्रायः छुट्टी दे दिया करता था। उस समय उसकी आँखों में कृतज्ञता और बेबसी के भाव कैसे हृदय-भेदी होते थे?

दोपहर का समय था, मैं अपने कमरे में बैठा बिल देख रहा था। इतने में चपरासी ने आकर कहा, "हुजूर! लाला सौदागरमल आये हैं।"

लाला सौदागरमल के यहाँ से हम कागज खरीदा करते थे। इस समय उनका आना मुझे बहुत नागवार गुजरा। मगर फिर भी चपरासी से कहा—"बुला लो।"

लाला सौदागरमल अन्दर आये, और आते ही बोले, "माफ कीजियेगा। मैं एक शिकायत लेकर आया हूँ।"

कागज की खरीद साधुराम के हाथ में थी। मैंने हिचकिचाते हुए जवाब दिया—"कहिये क्या शिकायत है?"

सौदागरमल कुछ क्षण चुप रह कर बोले—"मैं बाहर गया हुआ था। मेरी गैरहाजिरी में आपके क्लर्क साधुराम ने मेरे आदमी से मिलकर जाली बिल बनवा लिया है, और इस तरह से चार सौ रुपया उड़ा लिया है।"

मुझे ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी ने कलेजे पर कोयले रख दिये हों, कुर्सी से उछल कर बोला—"मुझे विश्वास नहीं होता। आपको धोखा हुआ है।"

"बुलवा कर पूछ लीजिए। अभी सब बात खुल जायगी।"

"परन्तु पूछूँ क्या? वह आदमी नहीं देवता है। सारा दफ्तर उसकी सौगन्ध खाता है। वह मरता मर जायगा, पर ऐसा काम कभी न करेगा। मैं उसे मुद्दत से जानता हूँ।"

"फिर भी जरा बुलवा तो लीजिए।"

मैंने साधुराम को बुलवाया और उसे सिर से पाँव तक देखते हुए पूछा, "मेरे पास कागज के सम्बन्ध में कुछ शिकायत पहुँची है। क्या यह सच है?"

साधुराम के मुख का रङ्ग लाश के समान सफेद हो गया। उसने मेरी तरफ इस तरह देखा, मानो मैं उसका वध करने लगा था। साथ ही लाला सौदागरमल की ओर देखा। इस दृष्टि में आँसू थे, और आँसुओं की ओट में बेबसी छिपी हुई थी। मैंने अधीर होकर पूछा—"चुप क्यों हो, बोलो! क्या यह सच है?"

साधुराम ने कुछ क्षण तक सोचा, और तब साहस से उत्तर दिया—"जी हाँ! सच है।"

"तुमने कितना रुपया खाया है?"

"चार सौ।"

"और इनके नौकर ने?"

"उसने भी चार सौ।"

मैंने उसकी आँखों में अपनी आँखें डाल कर कहा—"तुम जानते हो, तुम क्या कह रहे हो? तुम कह रहे हो तुमने चोरी की है।"

"जी हाँ। नहीं कैसे कर सकता हूँ। भूल हो गई। अब आपकी दया पर हूँ। चाहे बचा लें,. चाहे जीवन नष्ट कर दें।"

साधुराम ने इस समय तक जो न किया था, वह आज किया। उसके मुखमण्डल से आत्म-सम्मान का भाव इस तरह लुप्त हो गया था, जैसे सफेदी को स्याही भगा देती है। यह देखकर मेरे हृदय पर गहरी चोट लगी। यही अपराध अगर दफ्तर के किसी दूसरे आदमी से होता, तो मैं उस पर इतना ध्यान न देता, और डिपार्टमेंटल कार्यवाई करके इस मामले को दबा देता। मगर इस पाप में साधुराम का हाथ देखकर मुझे जहर चढ गया। मैं उसे कितना नेक समझता था। उस पर कितना विश्वास करता था। मुझे कभी उस पर सन्देह तक नहीं हुआ था। मगर आज उसने अपनी साख गँवा दी। आज उसने अपनी आन मिटा दी। आज उसने अपना गौरव अपने हाथों से बरबाद कर दिया। मुझे अफसोस हुआ। मैंने ठंडी साँस भरी और कहा—
"साधुराम! मुझे तुमसे यह आशा न थी। तुमने मेरा मन तोड दिया है। मुझे तुम पर श्रद्धा थी, तुमने मेरी वह श्रद्धा छीन ली है।"

(४)

पापी का सिर ऊँचा नहीं उठता। साधुराम ने भूमि की ओर देखते हुए जवाब दिया—"साहब! अब तो हो गया! इस बार माफ कर दीजिए, फिर कभी कोई अपराध न होगा। सच कहता हूँ, यह मेरा पहला पाप है, और अगर आप क्षमा कर दें, तो यही आखिरी हो जायगा।"

मैं क्रोध से पागल हो रहा था—झल्ला कर बोला—"मैं माफ नहीं करूंगा। तुम दोनो को पुलिस के हवाले कर दूंगा।"

साधुराम ने सिर झुकाकर कहा—"क्या आप माफ नहीं कर सकते?"

साधुराम के पाँवो से पृथ्वी खिसकती हुई मालूम हुई। सारा शरीर काँपने लगा। किसी दूसरे समय में यह दृश्य मेरे क्रोध पर जल का

काम कर जाता, मगर इस समय वही दृश्य तेल बन गया। मैंने कड़क कर कहा—"यह नहीं होगा। तुम्हारी जगह जेलखाना है।"

सौदागरमल उठ कर चले गये, मेरे क्रोध की मात्रा और भी बढ गई। मैंने फोन का चोगा हाथ में लिया और पुलिस लाईन का नम्बर माँगा। साधुराम की आँखों में आँसू आ गये। रोते-रोते बोला—"जनाब! मेरी स्त्री बीमार थी....मेरे पास पैसा न था..मुझे किसी ने उधार न दिया।"

इससे आगे उसका कण्ठ रुँध गया। वह एक शब्द भी न बोल सका। मेरे सामने से परदा उठ गया। वह विशुद्ध-आत्मा जो सारे दफ्तर में सज्जनता की मूर्ति समझा जाता था, जिसका आत्मसम्मान लोगों के लिए आदर्श था, जिसकी नेक-नीयती पर शङ्का करना पाप था, जो सदा अपना सिर ऊँचा उठाकर चलता था, वही देवता इस समय अपराधी अभियुक्त की नाई मेरे सामने खडा था। परन्तु यह पाप—यह अपराध उसने लोभवश नहीं किया, धन की लालसा से नहीं किया। उसे अपनी प्यारी स्त्री के इलाज के लिए रुपये की जरूरत थी, और रुपया उसके पास न था। वह इस कठिन परीक्षा में फेल हो गया। पर क्या वह अपराधी था? एकाएक मुझे याद आया कि ऐसा समय मुझ पर भी आ चुका है। कई वर्ष हुए, मेरी स्त्री भी बीमार थी। उन दिनो मेरा मासिक वेतन भी बहुत थोडा था। दाल रोटी का खर्च भी कठिनाई से चलता था। इस पर घर में बीमारी। हाथ में पैसा तक न रहा। मित्रों से सहायता माँगी, मगर किसी ने परवा न की। निराशा ने अँधेरा फैला दिया। इसी अँधेरे में पाँव धैर्य्य की शिला से फिसलते है, और सत्यमार्ग आँखो से ओझल होता है। इसी प्रलय की रात में आदमी आयु भर की कमाई लुटा बैठता है, और मोहरूपी डाकू उसे पाप के रास्ते पर डाल देता है। ज्यादा तेज दौडनेवाला आदमी कभी-कभी मुँह के बल गिर जाता है। उस समय मैंने मोह का सामना किया, पर कुछ बन न सका। धर्म्म की बाजी हार गया और चोरी कर बैठा। विचार आया,

साधुराम के जीवन में भी वही प्रलय की रात आई हुई थी। फर्क केवल इतना है कि इसका दोष प्रकट हो गया है, मेरा अपराध अभी तक छिपा हुआ है। क्या इसी से मुझे यह अधिकार हो गया है कि मैं इसका जीवन नष्ट कर दूँ। मैंने फोन हाथ से रख दिया। स्मृति ने फिर अतीतकाल के दफ्तर खोल दिये। उस समय मैं कितना सहमा हुआ था। दिन रात यही सोचता रहता था कि अगर मेरी करतूत खुल गई, तो क्या बनेगा? लोग हैरान रह जायँगे, कहेंगे, हम तो इसे महात्मा समझे हुए थे। मगर यह हजरत निकले। शक्ल देवताओं की है, काम शैतानों का है। वही अवस्था आज फिर मेरे सामने थी। मैंने सोचा, अगर इसे पुलीस के हवाले कर दिया, तो इसकी बीमार स्त्री का क्या हाल होगा? मेरी आँखों में आँसू झलकने लगे। साधुराम के लिए हृदय में सोया हुआ प्रेम जाग उठा। मैंने लम्बी साँस लेकर सिर उठाया और कहा—"साधुराम! मैं तुम्हें माफ करता हूँ। मगर यह रुपया तुम्हें लौटाना होगा।"

डूबते हुए को किनारा मिल गया। साधुराम का चेहरा चमकने लगा, जैसे चाँद बदलियों से निकल आया हो। जो आनन्द फाँसी के तख्ते पर चढ़ते हुए अभियुक्त को अपनी रिहाई का समाचार सुनने में होता है, वही आनन्द साधुराम को इन शब्दों से हुआ। वह घुटनों के बल बैठ गया, और मेरी तरफ अश्रुपरिप्लुत नेत्रों से देख कर बोला—"यह उपकार आयु भर न भूलूँगा। आपने मुझे बचा लिया।"

(५)

इस घटना को कई वर्ष हो चुके हैं। साधुराम अब भी मेरे ही दफ्तर में काम करता है। वह आज-कल १५०) पाता है, और बड़े मजे में है। उसने अपनी सच्चरित्रता से अपने पाप के कलङ्क को धो दिया है। दफ्तर के आदमियों की उस पर अब भी अटल श्रद्धा है। और इतना ही क्यों, उसकी सज्जनता की धाक सारे नगर में बैठी हुई है। वह प्रायः मेरे मकान पर आता-जाता रहता है। उसे देखकर मेरा

हृदय फूल की तरह खिल जाता है, और मेरे लड़केवाले तो उसे अपना गुरु समझते हैं। और मैं सोचता हूँ, उस समय अगर मैं उसे माफ न कर देता, तो आज वह क्या होता? चोर या डाकू या हत्यारा। आज वह समाज का एक मुफीद पुरजा है। उस समय वह समाज का गला-सड़ा फोडा होता।

मुझे अपने फैसले पर खुशी होती है, मगर मैं इस खुशी का जिक्र साधुराम से कभी नहीं करता।

घोर पाप

(१)

दुर्व्यसनो और दुराचारो की आधी रात सुरा और सौंदर्य के बाजार में गुजारने के बाद महताबराय गाडी में बैठकर अपने घर को रवाना हुए। वह चाहते थे कि प्रभात का प्रकाश पकने से पहले-पहले वह उस पाप-पुरी से परे चले जायँ, और बनारस का कोई प्रतिष्ठित पुरुष उन्हें वहाँ न देख सके।

रात तीन पहर से ज्यादा बीत चुकी थी। चारो तरफ निस्तब्धता का साम्राज्य था। और वह बाजार, जो रात के दस-बारह बजे तक बनारस का सबसे ज्यादा प्रकाशमय और जीता-जागता बाजार बना रहता है, इस समय लुटे हुए मेले की तरह सुनसान था। हाँ किसी-किसी मकान की मध्यम रोशनी या आवाज इस बात का प्रमाण थी कि अभी तक इस घर के रहनेवाले जाग रहे हैं। जैसे आग बुझ जाने के बाद भी कभी-कभी कोई चिनगारी चमक जाती है, उसी तरह उस सन्नाटे में भी किसी-किसी घर से कोई धीमी-सी आवाज कभी-कभी सुनाई दे जाती थी।

महताबराय की गाड़ी चल रही थी। उनके चारो ओर अँधेरा था। मगर उनका दिमाग अभी तक उसी कलक-कलुषित कौमुदी के प्रकाश से प्रकाशमान था, जिसके पास से वह उठकर आ रहे थे। उनकी आँखो में अभी तक वही दृश्य नाच रहे थे। उनके कानों में अभी तक वही तानें गूँज रही थीं। शरीर घर को जा रहा था, आत्मा वही रुका हुआ था।

एकाएक गाड़ी एक मोटर से टकराई, और उलट गई। लाला महताबराय ने बचने का बहुत प्रयत्न किया, पर बच न सके। शराब, यौवन और सौन्दर्य के मद से मतवाले कांपते हुए हाथ गिरती हुई

देह को न सँभाल सके। उनकी उँगलियाँ सड़क की मिट्टी पर से फिसल गईं; और उच्छृखल घोडे का एक पैर उनके सिर पर से गुजर गया। एक हलकी-सी चीख हवा में गूँजी, और इसके बाद महताबराय बेसुध हो गये। मोटर के अगरेज मालिक ने, यह सोचे बिना कि कौन गिरा है, और किस तरह गिरा है, सिगार का कश लगाकर अपने शोफर से पूछा—"मोटर तो नहीं टूटा?"

शोफर ने मोटर से नीचे उतरकर मोटर को अच्छी तरह देखा और उत्तर दिया—"नहीं हुजूर।"

यह सुनकर साहब को धीरज हुआ। बोले—"ये काला लोग बिलकुल गडा के माफक है। हम इस एक्सीडेंट का रिपोर्ट करेगा।"

शोफर ने मोटर चला दिया। मोटर अपनी तेज चाल से रात के सन्नाटे को तोडती हुआ निकल गयी। तब कोचवान ने बडी कठिनाई से अपने घोडे को उठाया, और गाडी लेकर भाग गया। उसे डर था कि अगर मेरा नबर नोट हो गया, तो मुझ पर भी मुसीबत आ जायगी। थोडी देर के बाद मोटर और गाडी दोनो आमने सामने के अँधेरे में लोप हो गये, और उनका शोर दूरी में डूब गया।

महताबराय वहीं सडक पर बेसुध पडे थे, उनके सिर से लहू बह रहा था, और उनके चारों ओर रात का अँधेरा और सन्नाटा था और उन्हें देखनेवाला कोई न था।

गाडीवाले को थोडी दूर जाकर एक दूसरा गाडीवाला मिला। उसने उस दूसरे कोचवान को न देखा, न देखने का प्रयत्न किया। उसको भय था, कहीं वह उसे पहचान न ले। वह अपनी आवाज को बदलकर, और अपने मुँह को छिपाकर, जोर से बोला—"जरा बचकर जाना। रास्ते में एक आदमी बेहोश पड़ा है। कहीं नीचे आकर कुचल न जाय।"

इस दूसरी गाडी में बनारस की सबसे सुन्दर प्रसिद्ध रंडी तारा सवार थी, जिसके रूप-लावण्य ने थोडे ही दिनो में दालमडी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक सब रसिक लोगो को अपना मतवाला बना

लिया था, और जिसके कोकिला के समान मधुर स्वर ने व्याकुल हृदयों में आग लगा दी थी। मगर उसके पवित्र भाव सर्वथा मर चुके हों, यह बात न थी। उनमें अभी तक जीवन का कुछ अंश बाकी था। महताबराय को इस बेबसी में देखकर उसके हृदय में एक कसक-सी उठी। स्वाभाविक करुणा एकाएक जाग उठी। जैसे रात के सन्नाटे में बाल्यावस्था में सुने हुए किसी संगीत की तान कभी-कभी सुनाई दे जाती है। उस तान में कैसा आकर्षण होता है, कैसी मोहनी-शक्ति! उसे सुनकर नींद खुल जाती और बीते हुए दिन आँखों-तले फिर जाते हैं। यही दशा तारा की हुई। महताबराय की बेबसी ने उसके नारी-हृदय की सोई हुई करुणा को जगा दिया। उस करुणा को, जो बचपन, और केवल बचपन की अबोध और पुण्यमय अवस्था ही में दिखाई दे सकती है। महताबराय अपने आपको कलंकित कर चुके थे। मगर यह बात उनके मुख पर से प्रकट न होती थी। उनके मुख पर अभी तक वही सरलता थी, वही भोलापन, जो भले लोगों की संपत्ति है। जड़ों में कीड़ा लग चुका था; मगर अभी तक वृक्ष की हरियावल में अंतर न आया था। तारा ने अपने नौकर की सहायता से महताबराय को गाड़ी में डाला, और उन्हें अस्पताल ले चली।

(२)

कितना फर्क था। तारा को सोई सद्भावनायें जाग उठीं। उसे स्वयं अपने से, अपने कर्म से, अपने घर से, उस घर की विलास-सामग्री से, घृणा होने लगी। महताबराय की मा-बहन और स्त्री के प्रेम-पवित्रता, और लज्जा ने उसके घृणित जीवन को उसकी दृष्टि में और भी घृणित कर दिया, जैसे काली वस्तु सफेद वस्तु के सामने आकर अधिक काली प्रतीत होती है। वह बाल्यावस्था ही से सौंदर्य का सौदा करनेवाली सृष्टि के जल-वायु में पली थी। इसलिए इससे पहले उसे भले घर का भला जीवन देखने का अवसर न मिला था। उसे यह भी मालूम न था कि पत्नी-भाव क्या और कैसा होता है? वह दौलत की हरजाई बेटियों

में उत्पन्न हुई, निर्लज्जता की गोद में पली और पाप के आँगन में बड़ी हुई। महताबराय के घर की स्त्रियो की सद्भावनाओ और नेकियो ने उसके हृदय में हलचल मचा दी। जब महताबराय की स्त्री अपने रोगी पति की ओर देखकर अपने देवियो जैसे लज्जा से काँपते हुए हाथ उनके मस्तक पर फेरती थी। जब उनकी माता अपने बेटे की ओर ऐसी दृष्टि से, जो तारा ने इससे पहले कभी न देखी थी, देखती थी। जब उनकी बहन उस प्रेम से, जिसमें स्वार्थ, बनावट या थकन की छाया तक न थी, सेवा करती थी, तो तारा के हृदय पर इतना प्रभाव पड़ता था कि वह अपने आप को भूल जाती और सच्चे आनद में झूमने लग जाती थी। कभी-कभी तो उसे सदेह होता था कि वह किसी दूसरी दुनिया में पहुँच गई है। वह सोचती थी, क्या इस स्वार्थमय लोभी ससार में यह भी हो सकता है? उसके सामने एक नया ससार खुल गया। यह संसार कैसा सुन्दर, कैसा पवित्र था? इसमें प्रेम के और आत्मबलिदान के फूल थे, पर कपट के काँटे न थे। यहाँ दिन का प्रकाश था, पर रात का अन्धकार न था। जिस तरह उस आदमी को, जो दूध के धोखे में सदा छाँछ पीता रहा हो, अकस्मात् एक दिन दूध पीकर अपने अतीत दुर्भाग्य का अनुभव होता है, ठीक उसी तरह तारा को प्रेम का यह सच्चा और पवित्र दृश्य देखकर अपने दुर्दैव का ध्यान आया। हृदय में किसी ने भाला चुभो दिया। दिन-रात अपनी अवस्था पर अफ-सोस करने लगी, कुढने लगी, रोने लगी। वह चाहती थी, किसी तरह बीता हुआ समय वापस आ जाय। मगर आँख से गिरा हुआ आँसू और कमान से निकला हुआ तीर कब वापस आया है! धीरे-धीरे उसने उस आदमी की तरह, जो अपनी जन्म की निर्बलता को अपने बाहु-बल से पूरा करना चाहता है, इस पतित अवस्था से ऊपर उठने का निश्चय कर लिया। बात साधारण न थी। तारा के हृदय में कई दिन तक हलचल मची रही। ऐसी हलचल किसी राजा के हृदय में अपना राज्य छोड़ते समय भी न मची होगी। तारा सोचती थी, मैं क्या करूँगी?

किधर जाऊँगी, जीवन का रास्ता कैसे ढूँढूँगी? परन्तु महताबराय की बहन और स्त्री की सहानुभूति ने कठिनता आसान कर दी। उन्होंने कहा—"चिन्ता न करो। हम तुम्हारा प्रवन्ध कर देंगी। तुम भूखो न मरने पाओगी। दुनिया बडी है, इसमें तुम्हारे लिए भी जगह निकल आयेगी।"

तारा ने यह सुना, तो ऐसी खुश हुई, जैसे जलती हुई दुपहर में किसी प्यासे को मीठे जल का स्रोत दिखाई दे जाय, या किसी भूले-भटके को घर का रास्ता सूझ जाय।

(३)

आठ दिन बीत गये। महताबराय अब पहले से अच्छे थे; पर अभी तक अस्पताल में थे। एक दिन सवेरे तकिया लगाये बैठे थे, और अपनी बहन किशोरी से धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। इतने में उनकी आँखें दरवाजे की ओर गईं। वहाँ तारा खडी थी। उन्होंने उसे देखा, और कुछ देर के बाद अपनी दुर्बल उँगली से उस ओर इशारा करके पूछा—"वह कौन है?"

किशोरी ने सोचा, वह समय आ गया, जिसकी प्रतीक्षा कर रही थी।

महताबराय ने फिर पूछा—"वह कौन है?"

किशोरी ने उत्तर दिया—"यह वह स्त्री है जिसने तुम्हारे प्राण बचाये है।"

महताबराय काँपकर बोले—"वह समय अब भी याद आता है, तो आँखो-तले अँधेरा छा जाता है। परमात्मा ने बचा लिया। अब सोचता हूँ, अगर यह स्त्री उस समय उधर न आती, तो क्या होता?"

"अब इस बात का जिक्र न करो।"

"कैसा विकट समय था?"

"याद आते ही कलेजा काँप जाता है।"

"मगर यह स्त्री कौन है, यह तुमने न बताया।"

किशोरी ने थोड़ी देर के बाद कहा—"कोई हो, पर उसने हम पर जो उपकार किया है, वह थोड़ा नहीं है।"

"यह कौन कहता है, इसने मुझे नया जीवन दिया है। इसने मेरी जान बचाई है।"

"जीवन-भर सिर न उठा सकेंगे।"

"मगर वह है कौन?"

"उसने तुम्हारे प्राण बचाये है।"

"यह उस समय घर से बाहर कहाँ जा रही थी?"

किशोरी ने इस तरह, जैसे सुना ही नहीं, कहा—"अब कभी रात को घर से वाहर न निकलना, अँधेरे में ऐसी घटनाएँ प्रायः हो जाया करती है। कोई पुण्यकर्म सामने आ गया, जो इस स्त्री की दृष्टि पड गई, नहीं तो काशी के लोग मरते के मुंह में पानी नहीं डालते। देखते हैं, अपनी राह चले जाते है।"

महतावराय ने आकाश की ओर देखते हुए ठडी साँस भरी, और उत्तर दिया—"इस घटना ने मेरी आँखें खोल दीं। मगर काम होने पर घर से वाहर निकलना ही पडता है, आदमी काम छोड़कर घर में कैसे बैठ रहे?"

"वावा तुम्हारे इन कामो ने मार डाला। क्या अब भी न संभलोगे?"

किशोरी की आँखों में आँसू थे, आँसुओं में विकलता। इन आँसुओं का मूल्य वही समझ सकता है, जिसके अपनी वहन हो। महतावराय ने उन आँसुओं को देखा, तो व्याकुल हो गये; बोले—"अच्छा! अब रात के समय न निकलूंगा, कभी न निकलूंगा। चाहे कुछ ही हो जाये।"

"हँसी करते हो मेरी तुम!"

"नहीं किशोरी, मैं सच्चे दिल से कह रहा हूँ। हँसी नहीं करता।"

"जानते नहीं हो, तुम्हारा ही मुंह देख-देखकर तो सारा घर जीता है। हमारा और है कौन?"

"अब से कान को हाथ लगाया।"

"थोड़ा संकट दिखाया है तुमने ? यह तुम्हारा दूसरा जन्म है!"

"अब बताओ, यह स्त्री कौन है?"

"एक दुखिया है।"

"अगर गरीब है, तो मैं इसे मुंह मांगा धन दूंगा। यह भी क्या कहेगी, कि किसी को मदद की थी। खुश कर दूंगा।"

"यह रुपये से खुश न होगी।"

"तो इसे क्या दुख है, मैं उसे दूर करने के लिए सब कुछ करूँगा।"

किशोरी को भाई के इन शब्दो पर कदाचित् सदेह था; धीरे से बोली—"प्रतिज्ञा करते हो?"

"हाँ प्रतिज्ञा करता हूँ।"

"और उस प्रतिज्ञा को पूरा करोगे?"

"मेरे शब्दो पर आज तक किसी ने सदेह नहीं किया।"

यह कहते-कहते उनका मुंह लाल हो गया, आँखो में क्रोध झलकने लगा। इस समय तक गगोत्तरी, महतावराय की पत्नी, एक तरफ बैठी थी। इस सारी बातचीत में वह बिलकुल न बोली थी। मगर अब वह चुप न रह सकी। ननद की ओर तीखी आँखों से देखकर बोली—"तुम ऐसी-ऐसी बातें क्यो करती हो? देखती नहीं, कैसी बीमारी से उठे हैं। इस तरह क्रोध करेंगे, तो फिर बीमार हो जायेंगे। एक वार कह दिया, प्रतिज्ञा की, अब तुम्हें विश्वास ही नही आता। बहुत बोलने से सिर दर्द होने लगेगा।"

किशोरी के हृदय में तीर-सा लगा। झल्लाकर बोली—"आप दो-दो घटे बातें करती रहती है, तब सिर-दर्द नहीं होता। मेरी दो बातो से सिर-दर्द होने लगेगा। बहुत अच्छा भाभी! मैं अब न बोलूंगी, बोलूँ तो जीभ काट लेना। अब खुश हुई तुम?"

गंगोत्तरी को अपनी भूल मालूम हुई।

"तुम तो यों ही बुरा मानती हो।"

"सिर फिरा हुआ है न मेरा।"

"अब बात करना भी अपराध हो गया।"

"मैं बाहर चली जाती हूँ, नहीं तो फिर सिर-दर्द होने लगेगा तुम्हारे पति का।"

यह कहकर किशोरी बाहर निकल गई। बाहर तारा खडी थी। उसने किशोरी का हाथ पकड़ कर पूछा—"क्यो कुछ नाराज मालूम होती हो, क्या बात है?"

इतने में गंगोत्तरी बाहर आ गई और बालको की तरह किशोरी के गले में भुजाएँ डालकर बोली—"तुम रूठी जाती हो। मगर मैं न रूठने दूँगी तुम्हें। चलो।"

किशोरी का क्रोध उतर गया; मगर उसने मुँह फुलाकर जवाब दिया—"मैंने कान पकडे। अब उस कमरे में जबान न खोलूँगी। नहीं तो फिर सिर में दर्द शुरू हो जायगा।"

पास से कोई आदमी जा रहा था। उसे देखकर गगोत्तरी ने मुँह पर घूँघट खींच लिया। मगर जब वह चला गया, तो किशोरी के गले से फिर लिपट गई, और बोली—"तुम मुँह न खोलना, मैं आप खोल लूँगी।"

यह कहकर गगोत्तरी ने किशोरी के मुँह में उँगली डालकर उसकी जीभ पकड ली, और हँसने लगी। तारा की आँखो में आँसू आ गये। कैसा प्यार है, कैसी बच्चों की-सी पवित्र चंचलता, कैसी सादगी; एक-एक अदा प्रेम के रस में सनी हुई थी। तारा सोचने लगी—क्या इस प्रेम के सरोवर से उसे एक भी घूँट न मिलेगा?

(४)

एकाएक गंगोत्तरी ने चौंक कर सिर उठाया, जैसे किसी को कोई भली हुई बात याद आ जाती है, और किशोरी का हाथ पकड़कर कहा—"चलो, तुम्हें बुला रहे हैं।

इशारा महतावराय की तरफ था। किशोरी अब न रुक सकी। प्रेम के पैरो में जंजीरें किसने डाली हैं? वह जल्दी-जल्दी महतावराय

के कमरे की ओर रवाना हुई। तारा ने रास्ता रोककर पूछा—"मेरा काम?"

"अब इसी का जिक्र करूँगी। तुम जरा चिन्ता न करो।"

तारा ने पूछा—"हो जायगा? तुम्हें आशा है?"

गगोत्तरी ने उत्तर दिया—"कमेटी के मेंबर हैं। कौंसिलो में जाते हैं। कई पाठशालाओ के सभापति है। क्या तुम्हारा इतना-सा काम भी न कर सकेंगे?"

मगर तारा के हृदय में जैसे कोई कह रहा था कि उसका यह काम न हो सकेगा। उसके पास रुपये की कमी न थी। वह अगर चाहती, तो सारी आयु सुख से व्यतीत कर देती। मगर वह उस रुपये को किसी अपने काम में लाना नहीं चाहती थी। वह अब उसकी आँखो में खटकने लगा था। सोचती थी, पाप की कमाई है, इससे उसका भला न होगा। वह अब अपनी मेहनत की कमाई खाना चाहती थी। उसने किशोरी और गगोत्तरी से कई वार कहा था, मुझे किसी पाठशाला में सिलाई का काम सिखाने पर नौकर करा दो, मैं इसी से पेट भर लूँगी और यदि यह भी न हो, तो अपने यहाँ बर्तन साफ करने पर रख लो। यह मेरे पापो का प्रायश्चित्त हो जायगा। गंगोत्तरी कहती, लड़कियो के लिए बाजा सिखाने का स्कूल खोल लो। मगर तारा उत्तर देती, यह न होगा। जब इस काम को छोड़ दूंगी, तो बाजा-तबला भी साथ ही छोड़ दूंगी। जब गॉव छोडा, तो गाँव का रास्ता भी छोडना होगा।

हृदय की बात हृदय में गड जाती है। किशोरी और गगोत्तरी, दोनो पर असर हो गया। उन्हें विश्वास हो गया कि तारा सन्मार्ग पर चलने के लिए अधीर हो रही है। उसकी सहायता को दोनो तैयार हो गईं।

महताबराय ने किशोरी को कमरे में आते देख कर करवट बदल ली, और पूछा—"बताओ, मुझे क्या करना होगा? मैं उसकी सहायता को सब तरह से तैयार हूँ।"

किशोरी पलँग के पास भूमि पर बैठ गई, और धीरे से बोली—"पहले यह सोच लो, कि वह वेश्या है।"

महताबराय पलँग से उछल पड़े, जैसे कोई अनहोनी बात सुनकर उछलता है। मुख पर व्याकुलता-सी झलकती थी। इस वाक्य ने उनके शान्त हृदय में हलचल मचा दी। वह चारो ओर इस तरह देखने लगे, जैसे उनसे कोई अपराध हो गया हो, जैसे किसी ने उनका अपमान कर दिया हो, जैसे किसी ने उन्हें गाली दे दी हो। उनका मुँह लाल हो गया।

किशोरी ने फिर कहा—"वह वेश्या है। मगर अब यह कुकर्म छोड़ना चाहती है। उसे कहीं नौकरी दिला दो, किसी पाठशाला में, अस्पताल में, आश्रम में। वह कम-से-कम वेतन में निर्वाह कर लेगी। मगर वह नेक बनना चाहती है। पाप से उसे घृणा हो गई है। उसको सहारा दो, वह अबला है।"

"मगर वह वेश्या है!"

"दिन-रात उदास रहती है। उसका कहीं ठिकाना बना दो। सारी उमर आसीस देती रहेगी।"

"रुपये देने से काम न चल सकेगा?"

किशोरी ने स्वाभाविक कटाक्ष से सिर हिला कर कहा—"नहीं, वह अपने हाथ की कमाई खाना चाहती है।"

महताबराय किसी गहरी चिन्ता में डूब गये। थोड़ी देर के बाद उन्होंने ठंडी साँस भर कर कहा—"बहुत कठिन है।"

किशोरी को यह आशा न थी कि महताबराय ऐसी चिन्ता में पड़ जायँगें; मिन्नतें करती हुई बोली—"यह काम तो तुम्हें करना ही होगा। जबसे तुम्हारा आपरेशन हुआ है, दिन-दिन भर यही बैठी रहती है। उसका चेहरा पहले से आधा भी नही रहा। रंग बदल गया, रूप बदल गया, तबीयत बदल गई।"

महताबराय के दिल पर दूसरा चरका लगा—"दिन दिन-भर बैठी रहती है यहाँ?"

"और रोती रहती है।"

"यहाँ—इसी दरवाजे पर?"

"उसका रोना देखा नही जाता।"

"यहाँ रोज आती है? इस अस्पताल में? मेरे इस कमरे में? किशोरी, तुम यह क्या कह रही हो? जरा सोचकर देखो।"

'हाँ, रोज आती है, और अपने पहले जीवन पर पश्चात्ताप करती है।"

महताबराय ने तकिया पीठ के पीछे रखकर जोश से कहा, "लोग क्या कहेंगे? मैं बदनाम हो जाऊँगा। उससे कह दो, यहाँ न आया करे। वह वेश्या है, हम शरीफ आदमी है, हमारा उसका क्या मेल?"

तारा दरवाजे के पास खड़ी यह बातचीत सुन रही थी। महताबराय के आखिरी शब्द सुनकर उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे पैरो-तले से मिट्टी निकल रही हो। आँखों से आँसू गालो पर बहने लगे। वह रोती हुई उठी, और गाड़ी में बैठकर अपने मकान को चली गई। इस समय दुनिया उसकी आँखो में अँधेरी हो रही थी। वह अपने हृदय के पूरे बल से खोजती थी, परन्तु उसे सन्मार्ग दिखाई न देता था। चारों तरफ अँधेरा था, और सन्नाटा था। और वह सोचती थी, मेरी कौन सहायता करेगा? इस रास्ते में मेरा हाथ कौन थामेगा? यह विचार उसका साहस तोड़ रहे थे। यह वही तारा थी; हाँ, यह वही तारा थी, जिसने अपने सौंदर्य के शस्त्र से सैकड़ो नवयुवको के दिल लूट लिये थे। आज वह सर्वथा विवश, सर्वथा निराश्रित थी। उसे अब अपने ऊपर तनिक भी भरोसा न था। बुराई कितनी सीधी, कितनी आसान, कितनी निर्भय है? और उसके विपरीत भलाई कैसी बेबस, कितनी दुर्बल, कैसी डर जाने वाली है। आदमी बुराई की तरफ जाना चाहे, सहस्रों सहायता देने वाले निकल आते है, भला बनना चाहे, एक भी आगे नही बढ़ता। कोई सज्जन बदमाश हो जायँ, समाज चुप रहता है। मगर बदमाश आदमी भला होना चाहे, तो लोग सहन नहीं कर सकते। सारा समाज विरोध करने को खड़ा हो जाता है।

तारा अपने मकान पर पहुँची, और बिलख-बिलखकर रोने लगी। इस समय उसका रोना उस बालक के रोने के समान था, जो मार खा सकता है, पर झिडकियाँ नहीं सह सकता। उसे महतावराय पर रह-रहकर क्रोध आ रहा था। सोचती थी, मैं लाख बुरी हूँ, परन्तु उनसे तो भलाई ही की है। उन्हें यों मुँह फाडकर न कहना चाहिए था! मैंने उनका जीवन बचाया है, नहीं तो मरने में क्या कसर थी? और अब मैंने उनसे रुपया नहीं माँगा, मकान नही माँगा, माँगी है नेक बनने में सहायता। क्या बुरा किया? परन्तु उनको अपनी वदनामी का खयाल है, मेरे जीवन का खयाल नहीं। जैसे समाज उनको घर से बाहर निकाल देगा। अस्पताल अपने स्वार्थ के लिए न जाती थी, उन्हीं के हित के लिए जाती थी। अब कभी वहाँ पैर भी न रक्खूँगी। निर्लज्ज अवश्य हूँ, परन्तु आत्म-सम्मान से खाली नही हूँ।

सहसा विचारो ने पलटा खाया। भले मनुष्य है, सारे शहर में जस है। बाजार में निकलते है, तो लोग हाथ बाँधकर खड़े हो जाते है। सरकार भी मानती है। उनके यहाँ मेरे आने जाने से सचमुच उनको कलङ्क लग जाता। लोग कहते, नेक बना फिरता था, सारी कलई खुल गई। वेश्या खबर लेने बिना किसी कारण के थोड़े ही आती है। जरूर दाल में काला होगा। हमने लोक-परलोक दोनो बिगाड़ लिये, मगर संसार तो बचा हुआ है। नेक बनने में सारी आयु लग जाती है, बदनाम होने में एक दिन भी नहीं लगता। ऊपर चढ़ना कैसा कठिन है? इसमें कितना समय लगता है? मगर गिरना कितना आसान है। इसमें कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता; शरीर को ढीला छोडा और बस, बाकी काम अपने आप हो जाता है। उन्होंने अपने को देखा, क्या बुरा किया। मेरी भी बुद्धि जाती रही जो उन्हें बुरा कह रही हूँ। अपराध मेरा है, अपराध उनका नहीं है।

इतने में नायका अन्दर आई। तारा ने चौंककर सिर उठाया, और फिर इस प्रकार, जैसे उसकी दशा करुणास्पद हो, उसकी ओर देखकर पूछा—"क्यो? क्या है?"

"लाला घनश्यामदास आये हैं।"

"कह दो, इस वक्त तबियत खराब है।"

नायका हैरान रह गई। उसे अपने कानों पर विश्वास न हुआ। घनश्यामदास बनारस के प्रसिद्ध रईस राय साहब परमेश्वरीदास का बटा था। बड़ा ही सुन्दर और सुडौल। उसका रूप देखकर भूख मिटती थी। जब तक राय साहब जीते थे, तब तक उनकी देख-रेख होती थी। मगर उनकी मृत्यु ने घनश्यामदास के पर खोल दिये। अब उसे कोई रोकनेवाला न था। दालमंडी में आना-जाना शुरू हुआ। सुन्दरता के मोती परखे जाने लगे। उसकी प्रकृति में पाप था, आँखों में लालसा। दाल-मंडी की रडियों में हलचल मच गई। उनमें से हर एक यही चाहती थी कि किसी प्रकार यह कबूतर फँस जाय। तारा ने भी हाव-भाव और कटाक्षों के जाल बिछा दिये। घनश्यामदास के गुजरने का समय होता, तो विशेष रूप से सज-सजाकर छज्जे पर आ बैठती। आँखें चार होतीं, तो मुस्कराती और नयनों के तीर चलाती। सोचती, वह दिन कब आयेगा, जब यह मतवाला साहूकार मेरी सीढ़ियों पर पैर रक्खेगा। और आज वह उसके मकान पर था। आज उसकी प्रार्थना स्वीकार हुई थी। आज उसके भाग जागे थे।

मगर इससे तारा को प्रसन्नता न हुई। दूसरा समय होता, तो वह आनन्द से पागल हो जाती; मगर अब उसका हृदय बदल चुका था। उसने ठडी साँस भरी, और निश्चयात्मक रूप से बोली—"कह दो इस वक्त तबियत खराब है।"

नायका ने समझा, शायद तारा पागल हो गई है। उसने उसे समझाने की चेष्टा की। परन्तु तारा ने हाथ के इशारे से उसे चुप कर दिया, और फिर चुपचाप रोने लगी। नायका चली गई—रुपया चला गया—उसका भाग चला गया। मगर तारा को परवा न थी, पर वह रो रही थी।

उधर किशोरी और गंगोत्तरी में लड़ाई हो रही थी—"महताबराय ने अच्छा नहीं किया, बेचारी का दिल तोड़ दिया। लाख बुरी हो, परन्तु नेक बनकर रहे, तो क्या बुरा है?"

गगोत्तरी कहती थी--"जानती नहीं हो , दूर-दूर तक इनका नाम है। और काशी के लोग तो इन्हें देवता समझते हैं। वह क्या कहेंगे? तुम क्या चाहती हो, एक वेश्या के लिए बदनाम हो जायँ? और उसके मन की कौन कहे--"जप-तप करने चली बिलैया नौ-सौ चूहे खाय के।" सारी आयु कोयलो में खेलती रही, आज साबुन का शौक चर्राया है। मगर इस स्याही को साबुन क्या धोयेगा?"

किशोरी पूछती थी--"यह उसके उपकार का बदला है शायद?"

गंगोत्तरी उत्तर देती थी--"रुपये चाहे, तो हजारो ले ले, पर मान-प्रतिष्ठा तो न देंगे।"

किशोरी कहती थी--"उसे रुपयो की जरूरत ही कब है? वह तो उनसे हाथ पकड़ने की सहायता चाहती थी। मगर पता लग गया; उनमें जरा भी साहस नहीं। केवल समाचारपत्र पढना जानते हैं । काम का समय आया, तो बैठ गये।"

हम इतना बुराई से नहीं डरते, जितना बदनामी से डरते हैं । बदनामी का डर न हो, तो ससार में पापो की सख्या कई गुनी बढ जाय। मगर जहाँ बहुत-से लोग बदनामी के विचार से नेक बनने पर बाध्य हैं, वहाँ कई लोग बदनामी के डर से घोरतर पाप करने को भी तैयार हो जाते हैं। लाला महताबराय मूर्ख न थे। वह जानते थे कि तारा का हृदय नेकी की ओर झुका हुआ है। वह यह भी चाहते थे कि तारा सन्मार्ग में जीवन व्यतीत करे । वह यह भी चाहते थे कि उसकी सहायता करें। परन्तु इसके लिए वह थोडा-सा त्याग न कर सकते थे। अपने लिए पाप करते थे; मगर तारा के हित के लिए भलाई करना भी कठिन हो गया। दूसरे दिन उन्होंने अपने दरवाजे पर फिर तारा का निराश मुख देखा; और फिर अपनी बहन से उसी तरह कहा—"किशोरी, लोग क्या कहेंगे? मैं बदनाम हो जाऊँगा। उससे कह दो, यहाँ न आया करे। वह वेश्या है, हम शरीफ हैं, हमारा उसका क्या मेल?"

(६)

तारा को विश्वास हो गया कि इनसे मेरी सहायता न हो सकेगी। जिनको मैं जल की तरंगें समझती थी, वह जलता हुआ रेतीला मैदान है। ओस से प्यास नहीं बुझ सकती। तारा की आँखें सजल हो गई। वह गाड़ी में बैठकर अपने मकान को चली गई, मगर उसके विचार न बदले। वह अब भी अपना घृणित पेशा छोड़ने पर तुली हुई थी। अब उसे न गाने-बजाने का शौक था, न हँसने-खेलने का। यौवन की उमगो के स्थान पर वैराग्य और निराशा छाई हुई थी। आँखो से आँसू गिरते रहते थे। न वस्त्र बदलती थी, न गहने पहनती थी, न वाल सँवारती थी। स्त्री का गर्व उसका रूप है, रूप-गर्व उसका शृगार है। तारा ने एक साथ दोनो त्याग दिये। यहाँ तक कि पंद्रह दिन बीत गये।

संध्या-समय था। सौंदर्य के बाजार में सौंदर्य के ग्राहक जमा थे। चौबारो में से आँखें झाँकती थीं, उनमें संदेसा था। बाजार से आँखें देखती थीं, उनमें लालसा थी। और इन दोनो के बीच में लज्जा की दीवार खड़ी थी, नहीं तो सौंदर्य और प्रेम का आलिङ्गन हो जाता। परन्तु सौंदर्य इस लज्जा को अपने लगातार हमलों से परे हटाने की चेष्टा कर रहा था और जब कभी वह सफल हो जाता, तो लज्जा के होठ नीले हो जाते थे, और प्रेम के प्रवाह में हलचल मच जाती थी, और जोबन मुस्कराता था।

हर एक बैठक पर रौनक थी। हर एक बैठक में प्रकाश था। मगर तारा के मकान पर उदासी छाई हुई थी, जैसे उसके यहाँ कोई मर गया हो। कभी उसके चौवारे में सबसे बढ़कर रौनक होती थी। तारा अपने कमरे में बैठी उन दिनो को याद करती थी और ठण्डी साँसें भरती थी। पापो की स्मृति पापो से अधिक भयानक होती है। उसे अब उस मकान से डर लगता था। चाहती थी, इस मकान के सामान को आग लगा दे, और कहीं निकल जाय। फिर विचार आता, कहाँ जाय? क्या उसे कोई भला पुरुष अपनी ड्योढ़ी में पैर भी रखने देगा? आज

तक लाल आँखें नही देखी, यह अपमान कैसे सहेगी? इस विचार से वह इस तरह सहम जाती थी, जैसे हिरनी सिंह से। पाप करना इतना कठिन नहीं, जितना उसे छोडना। उसके लिए निर्लज्जता की जरूरत है, इसके लिए अचल धैर्य की। मनुष्य निर्लज्ज बन सकता है; मगर धीर बनना सुगम नहीं। अगर आदमी धीर बन सकता, तो ससार ससार न रहता, स्वर्ग बन जाता, आदमी आदमी न रहते, देवता बन जाते।

एकाएक पैर की आहट सुनाई दी। तारा ने सिर उठाया, तो सामने गुलनार खडी थी। वह भी वेश्या थी। उसे देखकर तारा की आँखें सजल हो गई, जिस तरह रोगी किसी सबधी के आने से रोने लगता है। तारा का मलिन वेष और रूखे बाल देखकर गुलनार के कलेजे में तीर-सा चुभ गया। कुछ देर तक चुपचाप खड़ी रही, फिर बोली—"तारा! यह तुमने क्या हाल बना लिया है अपना?"

तारा ने भूमि की ओर देखते हुए उत्तर दिया—"परमात्मा करे मेरा अब यही हाल बना रहे।"

"लिबास और ज़ेवर क्या हुए?"

"उन्हें देखकर आग लग जाती है।"

"तुम्हारा मुँह पहले से आधा भी नहीं रहा।"

"स्त्री के लिए मुँह की सुन्दरता ही सब कुछ नही।"

"इस वक़्त को पछताओगी। फिर यह हाथ न आयेगा।"

तारा ने एक विचित्र दृष्टि से गुलनार की ओर देखा, और कहा—"मेरा हृदय इस पापमय जीवन से बेजार हो गया है।"

"तो यह कहो, अब जोगन बनने का इरादा है!"

"जोगन क्या बनूँगी, नारी बनने की इच्छा है।"

गुलनार ने कुछ सोचा, और फिर पूछा—"मगर यह क्यो? आखिर हुआ क्या है?"

तारा ने आँखें बन्द कर लीं; मानो किसी भूले हुए मनोहर दृश्य का ध्यान आ गया हो, और कहा—"इसलिए कि अब मैंने पतिव्रता

स्त्री, सच्चरित्रा बहन और पुण्यात्मा पति का जीवन देख लिया है। अब मेरी आँखें खुल गई है।"

गुलनार ने तारा का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"वह कौन-सा पुण्यात्मा पति है, जिसके जीवन ने तुम्हें बदल दिया। ज़रा उसका नाम तो लो, मैंने भी बनारस में जिन्दगी गुजारी है, उसे जरूर देखा होगा। न देखा होगा तो नाम सुना होगा।"

तारा रुक-रुककर बोली—"उनका नाम लाला महताबराय है। बडे ही भले आदमी है।"

गुलनार जोश से केले के पत्ते की तरह काँपती हुई बोली—"कौन महताबराय? कुछ अता-पता बताओ।"

"गाड़ी के नीचे आ गये थे।"

"कलाई पर घडी बाँधे रहते है?"

"हाँ, वही।"

"बडे अमीर है?"

"क्या तुम उन्हें जानती हो?"

गुलनार ने मुस्कराकर मुँह फेर लिया और कहा—"खूब जानती हूँ, मुझसे पुरानी मुलाकात है।"

तारा के कलेजे में जैसे किसी ने भाले की नोक चुभो दी। तडपकर बोली—"गुलनार! मुझे धोखा न देना।"

"आज रात को मकान पर आ जाओ, तो आँखो से दिखा दूँ, कि वह कैसा आदमी है।"

"पर मुझे विश्वास नहीं आता।"

"आज रात को आ जायगा। तुम मेरे मकान पर आ जाना।"

(७)

रात को बारह बजे तारा गुलनार के मकान पर पहुँची। इस समय उसका मुख उदास था, आँखें निस्तेज। उसकी दशा उस विद्यार्थी के समान थी, जिसे फेल होने का खटका लगा हो। उसने महताबराय के

प्रश्न को अपना प्रश्न बना लिया था। गुलनार ने उसे अपने पास बिठा लिया और पाप के भूले हुए पाठ पढाने लगी; मगर तारा का ध्यान इस ओर न था। उसके कान बाजार की ओर लगे थे और वह उस समय की बाट देख रही थी, जब--

इतने में बाहर किसी गाडी की गडगडाहट सुनाई दी और दरवाजे पर आकर मर गई, जिस तरह हर वेश्या के मकान पर आकर नेकी मर जाती है। गुलनार ने अपने गले का हार ठीक करते हुए तारा से कहा--"उस परदे के पीछे छिप जाओ और अपने शरीफ-बदमाश का तमाशा देख लो। तुम्हारी तसल्ली हो जायगी।"

यह कहते-कहते उसने तारा को परदे के पीछे ढकेल दिया।

पैरों की आहट सुनाई दी; तारा के प्राण होठो तक आ गये। वह घुटनो के बल झुक गई और अपनी आँखो में आँसू भरकर बोली--"परमात्मा करे, यह वह न हो। नहीं तो मुझे जो श्रद्धा समाज और मनुष्यत्व पर है, वह न रहेगी। मेरा सहारा छूट जायगा। मैं सदा-सदा के लिए पाप के बाजार में रह जाऊँगी।"

मगर परमात्मा ने उसकी प्रार्थना न सुनी।

कोई आदमी दरवाजे के अन्दर आया और उसने ऐक्टरो की तरह झुककर कहा--"सरकार--तस्लीम!"

तारा के शरीर से पसीना बहने लगा--यह वही थे।

गुलनार ने भौंह चढाकर उत्तर दिया--"जाइए लाला साहब! इतना जमाना गुजर गया, एक पैगाम तक न भेजा गया, और हम यहाँ तडपते रहे। खुदा जानता है, अगर आपकी बदनामी का खयाल न होता, तो पद्रह दफा अस्पताल आती, पद्रह दफा।"

लाला महताबराय ने हाथ बाँधे और कहा--"अब यह गलती न होगी। इस दफा माफ कर दीजिए।"

यह कहते-कहते उन्होने गुलनार के दोनो हाथ अपने हाथो में पकड लिये और उसे अधीरता से अपनी ओर खींचा।

अब तारा न रह सकी। सहसा उसने परदा हटाया और बाहर आकर सामने खड़ी हो गई।

महताबराय सन्नाटे में आ गये। वह कभी गुलनार की ओर देखते थे, कभी तारा की ओर और वास्तविक मर्म को समझने का यत्न करते थे। गुलनार की हँसी रोके न रुकती थी; मगर तारा की आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलतीं थीं। उसने आगे बढ़कर अपने दोनो हाथ महताबराय के दोनो कंधो पर रख दिये। अपनी आँखें उनकी आंखो में डाली और कहा—"लोग क्या कहेंगे? मैं बदनाम हो जाऊँगा। उससे कह दो, यहाँ न आया करे। वह वेश्या है, हम शरीफ है, हमारा उसका क्या मेल है?"

महताबराय पर वज्रपात हुआ। तारा देखते-देखते बाहर निकल गई।

अब वह फिर बदल चुकी थी।

उसने अपने मकान पर पहुँचकर अपना लिबास बदला, आभूषण पहने, बाल सँवारे, मुँह पर फेस-क्रीम मला और फिर शीशे के सामने खड़ी होकर अपना रूप-सौंदर्य देखने लगी और अपनी पुरानी अदाओ से झूमने लगी।

अब वह फिर वही तारा थी। वही दालमडी की प्रसिद्ध तारा, वही सदाचार और सच्चरित्र को लूटनेवाली तारा, वही सभ्यता की शत्रु तारा। अब फिर उसकी आँखो में वही मद था, मुख पर वही सौंदर्य था, दिल में वही जहर था। वह अपने आपको शीशे में देखकर हँसने लगी कि इतने दिनो कैसे मूर्ख बनी रही। इतने में नायिका अंदर आई और इस काया-पलट को देखकर चकित रह गई। उसने धीरे से कहा—"लाला घनश्यामदास आये है।"

तारा के रोम-रोम में हर्ष की लहर दौड़ गई। उसने अपने सिर के बालों को माथे पर मरोड़ते हुए कहा—"उनसे कहो, तशरीफ रक्खें। मैं अभी हाजिर हुई।"

तारा मुँह में पान रखकर अपने शरीर को निर्लज्जता के कटाक्ष से हिलाती हुई और होठो पर वेश्याओ की-सी मुस्कराहट लिये हुए

उस कमरे के अंदर आई जहाँ लाला घनश्यामदास बैठ उसकी राह देख रहे थे, मानों पाप पाप की राह देख रहा था।

उस रात महताबराय ने सुपने में देखा कि कोई दिव्य ज्योति उनसे कह रही है—"ऐ पापी! तूने अपनी स्त्री, बहन और माँ के प्रेम को पैरों-तले कुचला है। तूने पराई धरोहर में पाप-वृद्धि की है। तूने अपने आपको, अपने अंतःकरण को अपने परमात्मा की दृष्टि में नीचे गिराया है। तूने अपने आचार को नष्ट कर लिया है। यह सब पाप है, मगर तूने जो एक पापात्मा को सन्मार्ग की ओर आने से रोका है, और उसे फिर उसी पाप के नरक-कुंड में सड़ने पर बाध्य किया है, यह पाप नहीं, "घोर पाप" है, और तेरा यह पाप कभी माफ न होगा।"

महताबराय जागा, इस सुपने पर उसने गौर किया, और करवट बदलकर फिर उसी तरह सो गया।

—.०.—

सेवा-धर्म

(१)

दिवाली की रात थी, पृथ्वी ने आकाश का रूप धारण किया था। जहां तक दृष्टि जाती थी, दीपको के सिवा कुछ दिखाई न देता था, जैसे आकाश के तारों की गिनती न हो। परन्तु यही अनावस की चांदनी रात है, जब हजारो लोभी हाथ-कल्पित ऐश्वर्य्य की लालसा में पड़कर अपनी पूंजी लुटा देते हैं, और फिर अपनी मूर्खता पर बैठे रोते हैं। आदमी परिश्रम नहीं करना चाहता, मगर उसके मीठे फल खाना चाहता है। आशा बुद्धि को धोखा दे जाती है। पूरनचन्द भी इसी मत्र से मुग्ध हो चुका था, और दिन-रात जुआ खेलता रहता था। दिवाली के दिनो में तो उसे खाने-पीने की भी सुध न रहती थी। उसे विश्वास हो गया था कि किसी न किसी दिन भाग्य चमकेगा, लक्ष्मी प्रसन्न होगी। आशा वार वार निराशा का रूप धारण करती थी, परन्तु पूरनचन्द हार नहीं मानता था, और भाग्य के भरोसे बराबर पाँसा फेंकता रहता था। वह एक दफ्तर में खजानची था। दिवाली निकट आई, तो दफ्तर से गायब रहने लगा। मगर महीने के अन्तिम दिनो में दफ्तर जाना आवश्यक हो गया। स्टाफ के वेतन का बिल बनाना था। दैवयोग से दिवाली पहली नवम्बर को थी। ३१ अक्टूबर को वेतन बाँटने के लिए रुपया आया, पर पूरे चार बजे। क्लर्क घर जा चुके थे। वेतन उस दिन बांटा न जा सका। पूरनचन्द ने अपना वेतन उसी दिन ले लिया और झूमता-झामता घर को चला। दिवाली की रात की सामग्री मिल गई थी। रात को जब लक्ष्मी-पूजा हो चुकी तब वह दीपमाला देखने के बहाने घर से चला और जुए के अड्डे पर जा पहुँचा। वहां उसका दुर्भाग्य पहले ही से खड़ा उसकी बाट देख रहा था। जाते ही सब कुछ हार गया। अब उसकी दशा उस पंछी के समान थी जो उड़ने से पहले ही

परकटा हो चुका हो। उस समय उसकी बेबसी कैसी करुणामय कितनी हृदयद्रावक और निराशाजनक होती है। वह उड़ना चाहता है मगर अपने कटे हुए परों को देखकर ठण्डी आह भरता है और तड़पकर रह जाता है। पूरनचन्द को ऐसा मालूम हुआ, जैसे दिवाली की रात के साथ ही उसका सौभाग्य भी चला जा रहा है। चारो ओर दृष्टि दौड़ाई, मगर कहीं से रुपया मिलने की आशा न थी। सहसा उसके हृदय में एक विचार आया। आशा सामने खड़ी दिखाई दी–स्टाफ के वेतन का रुपया दफ्तर में पड़ा था–और वह खजानची था–और वह रुपया ला सकता था।

पूरनचन्द पर नशा सा छा गया। वह उड़ता हुआ दफ्तर की ओर चला। रात के दस बज चुके थे, दीपमाला के वसन्त में शिशिर के चिह्न दिखाई देने लगे थे। बाजारो की रौनक कम हो रही थी। मगर पूरनचन्द की आँखें इस तरफ से बन्द थीं। वह इस तरह भागता चला जा रहा था, जैसे किसी बीमार के लिए कोई डाक्टर को बुलाने जा रहा हो। दफ्तर में पहुँचा तो चौकीदार दिखाई दिया। पूरनचन्द का हृदय सहम गया। चौकीदार ने पूछा–"कौन है?"

"मै हूँ, गङ्गादीन! कहो क्या हाल है?"

गगादीन ने स्वर से तुरन्त पहचान लिया, और आगे बढ कर बोला "आइए बाबू साहब! बाजार में तो खूब रौनक हो रही है। आप यहाँ कैसे भूल पड़े?"

पूरनचन्द का कलेजा धड़क रहा था, मगर जीभ पूरी-पूरी बस में थी, हँसकर बोला–"कुछ कागज भूल गया था। जरा दरवाजा खोल दे, तो देख लूँ। हमें आज भी काम नहीं छोड़ता।"

गङ्गादीन ने दरवाजा खोल दिया। यदि कोई और होता, तो वह कभी दरवाजा न खोलता। मगर पूरनचन्द खजानची था, उसकी बात कैसे टालता। कई बार एडवान्स की आवश्यकता आ पड़ती थी। पूरनचन्द कमरे में पहुँचा और रोशनी करके मेज के सामने बैठ गया। इस समय उसका मन ऐसा घबराया हुआ था, जैसे कबूतर बाज के पंजे

में फँस गया हो। बार-बार विचार आता था कि यह कुकर्म मुझे नष्ट कर देगा। मगर इस अन्धकार में आशा का प्यारा चेहरा भी कभी कभी दिखाई दे जाता था। सरस्वती और लक्ष्मी का यह संग्राम कुछ देर जारी रहा। अन्त में लक्ष्मी का जादू चल गया। उसने सेफ खोलकर चार सौ रुपये के नोट जेब में डाल लिए और कमरा बन्द करके बाहर निकल आया। इस समय उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे सफलता की एक सीढ़ी चढ आया है, यद्यपि उसका एक एक पद उसे विनाश की ओर ले जा रहा था।

थोड़ी देर बाद पूरनचन्द फिर उसी जुए के अड्डे में जा पहुँचा जहाँ भाग्य फूटता है और बुरे दिन हँसते हैं। आशा रास्ता दिखा रही थी, मगर दुर्भाग्य ओट में खड़ा मुस्कराता था। पूरनचन्द ने फिर दाँव लगाये और फिर सब कुछ हार गया। अब यह आशा का नाटक न था, नैराश्य-लीला थी। सरस्वती के बाद लक्ष्मी भी विदा हो गई। अब चारों ओर अँधेरा था। परन्तु उस अँधेरे से अधिक डरावनी वह उषा-काल की सफेदी थी जो धीरे-धीरे निकट आती जाती थी। इस सफेदी से पूरनचन्द इतना भयभीत था कि उसकी कल्पना ही से उसकी आत्मा काँप जाती थी। सोचता था, क्या कोई ऐसा उपाय नहीं हो सकता कि कल सवेरे सूरज न निकले। न दिन चढे, न उसका पाप प्रकाश में आये। परन्तु वह कैसे हो सकता था? पूरनचन्द घर पहुँचा। इस समय उसके पैर ऐसे लड़खड़ा रहे थे जैसे किसी ने शराब पी हो। उसके पिता रायसाहब सुरजनमल अमीर आदमी थे, परन्तु उनकी कंजूसी सारे नगर में प्रसिद्ध थी। पूरनचन्द को कई बार विचार आया कि चलकर उनके सामने सारी बात खोल दूँ, तो वे मेरे लिए चार सौ रुपये का मुँह न देखेंगे। परन्तु फिर विचार आता कि यह नही होगा। ऐसे भाग्य होते तो वे मुझे कोई कारखाना न खोला देते। बेकार शर्मिंदा हूँगा। कोई और उपाय सोचना चाहिए। अब इसे समझ आ गई थीं; आशा कोई नया धोखा न दे सकी। उसने सारी रात आँखो में काट दी। सवेरा

होते-होते उसका धैर्य्य कुछ बँध चुका था। एक पाप पर परदा डालने के लिए नये पाप की तैयारी हो रही थी। उस समय उसकी आँखें अपने नौकर रौनकी पर लगी थीं। सोचता था, शायद यही लकड़ी का कमज़ोर तख्ता नाव का काम दे जाये।

(२)

रायसाहब सुरजनमल के तीन नौकर थे। उनमें रौनकी सबसे पुराना था। उसने अपने जीवन का अधिकाश भाग रायसाहब ही की सेवा में व्यतीत किया था। आदमी अक्खड़ था, बोलता तो ऐसा जान पडता, मानो लड रहा है। काम से भी जहाँ तक हो सकता कतरा जाता था। हाँ, दूसरे नौकरो को डाँट डपट करना खूब जानता था। और वह इस काम को ऐसी सख्ती से करता कि नौकर बिलबिला उठते थे। रौनकी के इस दुर्व्यवहार के विरुद्ध नौकर प्रायः रायसाहब के सामने रोते रहते थे, परन्तु वे रौनकी ही का पक्ष लेकर उन्हें फटकार देते थे। इससे रौनकी का चेहरा खिल जाता था। अकडकर कहता—"मेरा तुमने क्या बिगाड़ लिया ?"

परन्तु रौनकी में कोई गुण न हो, यह बात न थी। वह स्वामी के लिए प्राण तक देने को तैयार रहता था। रायसाहब को उसपर रुपये पैसे के मामले में पूरा-पूरा विश्वास था। उनको इस बात का निश्चय हो गया था कि रौनकी मरता मर जायगा, पर एक पाई भी इधर-उधर नहीं करेगा। कई अवसर ऐसे आये जब रौनकी चाहता, तो सैकडो रुपये उड़ा सकता था। माया ने सुनहरा जाल बिछाया, परन्तु रौनकी ने अपने मन को डाँवाडोल नहीं होने दिया। वह पराये रुपये को मिट्टी के समान समझता था। रौनकी के इस गुण ने उसके सारे अवगुणो पर परदा डाल दिया था। रायसाहब उसपर लट्टू थे, उसकी बात सुनते थे, उसपर विश्वास करते थे।

(३)

दिवाली के दूसरे दिन प्रातःकाल रौनकी अपने कमरे में बैठा गुड-गुडी पी रहा था, और आँखें बन्द किये किसी गहरे विचार में मग्न

था। इतने में पूरनचन्द भागा-भागा अन्दर आया और बोला, ''रौनकी! मुझे बचा लो।"

आवाज में करुणा भरी थी, शब्दों में घबराहट। रौनकी के हाथ से गुड़गुडी छूट गई। उसे पूरनचन्द से असीम प्रेम था। उसने उसे गोदी में खिलाया था। वह रात के समय प्रायः बेसुध पड़ा सोता रहता था। मगर जब कभी पूरनचन्द बीमार हो जाता तब वह सारी सारी रात उसके सिरहाने बैठकर रात काट देता था। कई आदमियो ने उसे अधिक वेतन पर अपने यहाँ ले जाना चाहा, परन्तु पूरनचन्द के विचार से वह कही न गया। प्रेम ने पैरो में जंजीर डाल दी थी। उसका कोई बच्चा न था। वह पूरनचन्द से पुत्र के समान स्नेह करता था। जिस तरह वन के वृक्ष को जल देनेवाला उस वृक्ष की शाखाओं और डालियो से भी प्यार करने लगता है, उसी तरह रौनकी पूरनचन्द और उसके भविष्य को प्यार करने लगा था। जब उसे आयु में बड़ा होते देखता तब उसका हृदय हर्ष से फूल उठता था। मानो वह उसका नौकर नहीं, पिता था। वह जब कभी एकान्त में बैठता तो पूरनचन्द ही के विषय में सोचता रहता था। वह इस समय भी उसी के विचार में मग्न था। सोचता यह था कि रायसाहब अब क्यो नहीं उसका ब्याह कर देते। रायसाहब की दूरदर्शिता उसके लिए कृपणता थी, और वह उस कृपणता पर झुँझलाता था। एकाएक पूरनचन्द को कमरे में आते देखकर उसका कलेजा हिल गया। घबराकर बोला-क्यों सरकार! मामला क्या है?"

(४)

यह कहते कहते रौनकी ने कोने में पडी हुई, लाठी उठा ली, और इस तरह तैयार हो गया, जैसे पूरनचन्द के पीछे कोई भयानक डाकू आ रहा हो। पूरनचन्द के परेशान चेहरे पर एक क्षण के लिए हँसी की रेखा आ गई जैसे रात को काले आकाश में जुगनू चमक जाता है। इसके बाद उसने ठण्डी सांस भरी और कहा-"रौनकी! लाठी रख दो। इसकी आवश्यकता नहीं।"

रौनकी के हृदय से बोझ-सा उतर गया। लाठी रखते हुए बोला–"तो सरकार! ऐसी कौन आफत आई है, जो मुँह सूख गयो है। मैं तो डर गया था। जल्दी कहो, बात क्या है?"

पूरनचन्द ने चारों ओर इस तरह देखा, जैसे चोर चोरी करने से पहले देखता है। उसको डर था कि कही कोई मुझे देख न ले। धीरे से बोला–"मेरे सिर पर सचमुच आफत ही आ गई है। तुम चाहो, तो मुझे बचा सकते हो, चाहो तो मौत के मुँह में फेंक सकते हो। कहो मेरा एक काम करोगे?"

रौनकी ने सीने पर हाथ रख कर उत्तर दिया–"हुजूर! हुक्म दें तो मैं आग में कूद पड़ूँ, हुक्म दें, तो सिर काट दूँ।"

पूरनचन्द का चेहरा चमक उठा। निराशा के अन्धकार में आशा की किरण चमकने लगी। उसने जेब से सोने का एक हार निकाला और रौनकी के हाथ पर रख कर कहा–"इसे बाजार ले जाओ और बेच आओ। मुझे अभी रुपये की आवश्यकता है। और मैं खुद बेचना नहीं चाहता।"

रौनकी पर बिजली सी गिर पडी। हार देखकर वह इस प्रकार डर गया, जैसे उसे साँप ने सूँघ लिया हो। उसकी जिह्वा बन्द हो गई। दिमाग में सहस्त्रों विचार समा गये। रह-रहकर सोचता था कि पूरनचन्द को ऐसी क्या आवश्यकता आ पडी है जो हार बेचने तक की नौबत पहुँच गई। और फिर कोई निर्धन कङ्गाल नही। रायसाहब चाहें तो आधा शहर खरीद सकते हैं। उनको हार बेचने की क्या आवश्यकता है। रौनकी समझ गया कि पूरनचन्द यह काम रायसाहब से छिपाकर कर रहा है। मगर चोरी क्यो करता है, इसका कारण न समझ सका। विचार-सागर में चिरकाल तक डुबकियाँ लगाने पर भी उसे किनारा न मिल सका। उसने गम्भीरता से पूरनचन्द की तरफ देखा। आँखो में दिल रक्खा हुआ था। पूरनचन्द ने उसे सोच-विचार में निमग्न देखा, तो फिर घबरा गया। आशा की छोटी-सी किरण भी आँखो से ओझल हो गई। अब चारो तरफ फिर अँधेरा था।

रौनकी ने पूछा–"सरकार मामला क्या है? ऐसी जरूरत क्या हो गई, जो हार बेच रहे हो? साफ साफ कहो।"

पूरनचन्द की आँखों में आँसू भर आये। उसने कोई उत्तर न दिया और हार जेब में डालकर वापस चलने लगा। उस समय उसका मुख निराशा और शोक की जीती जागती मूर्ति था। रौनकी के कलेजे पर साँप लोट गया। पीछे दौड़ कर बोला–"सरकार! तुमको कितने रुपये की जरूरत है?"

सूखे धानों में पानी पड़ गया। पूरनचन्द ने फिर दिलेर होकर उत्तर दिया,–"चार सौ की।"

"रुपया कब चाहिए?"

"अभी, इसी वक्त।"

रौनकी के पास कोई छः सौ रुपये रक्खे थे। वह रुपया उसने कई वर्षों में इकठ्ठा किया था। वह सारा वेतन घर नहीं भेज दिया करता था। तीन-चार रुपये मासिक बचा रखता था। यह रुपये उसने अपने कमरे के एक कोने में दबा रक्खे थे। रौनकी ने सोचा कि हार लेकर बाजार में कहाँ बेचता फिरूँगा। अपने पास से रुपये दे देता हूँ। क्या हर्ज है? पूरनचन्द का हाथ सदा तो इसी तरह तङ्ग नहीं रहेगा। जब उसके हाथ चार पैसे आयेंगे तो इससे अपना रुपया वापस लेकर हार लौटा दूँगा। इस समय उसका काम चल जायगा। यह सोचकर उसने पूरनचन्द से हार ले लिया और कहा–"अच्छा सरकार! यह काम हो जायगा।"

पूरनचन्द की जान में जान आई। उसको ऐसा मालूम हुआ, मानो रौनकी उसके लिए नौकर नहीं, देवता है, जो उसे संकट से बचाने आ गया है।

(५)

थोड़ी देर बाद रौनकी न कमरे का दरवाजा बन्द किया और जमीन खोदने लगा। इस समय उसका कलेजा जोर जोर से धड़क

रहा था। उसने चोरी नहीं की थी, कोई पाप, कोई कुचेष्टा नहीं की थी। परन्तु फिर भी उसका हृदय कांप रहा था। वह केवल यह चाहता था कि पूरनचन्द का काम हो जाय, और रायसाहब के सामने अपने अपराध को प्रकट न करना पड़े। यद्यपि वह नितान्त बेसमझ और अनपढ़ था, तो भी उसे विश्वास हो गया था कि अगर पूरनचन्द का यह अपराध जिसके विषय में वह आप भी अभी तक अन्धकार में था, रायसाहब के सामने प्रकट हो गया, तो पूरनचन्द का भविष्य काला हो जायगा। अजब नहीं, रायसाहब उसे घर से निकाल दें।

इस विचार से उसका खून सूखा जाता था। वह सब कुछ सह सकता था, परन्तु पूरनचन्द का उदास मुंह देखकर उसका धीरज छूट जाता था। उसने जल्दी जमीन खोदी, रुपया गिनकर निकाला और जमीन को फिर से बराबर कर दिया। इस समय उसके मुख पर फिर वही शान्ति थी। कुछ देर बाद पूरनचन्द फिर निराश और चिंतित आया और हिचकिचाते बोला—रौनकी ! मेरा काम हुआ या नहीं?"

रौनकी गुडगुडी पी रहा था। उसने मुख से कोई उत्तर न दिया परन्तु हाथ से अपने सिरहाने की ओर इशारा कर दिया। पूरनचन्द ने रुपया देखा तो मुरदा शरीर में प्राण आ गये। रौनकी की ओर कृतज्ञता से देखता हुआ चला गया।

एकाएक रौनकी चौंक पडा, जैसे किसी की कोई बहुमूल्य वस्तु गुम हो जाय। वह जमीन पाटते समय हार दबाना भूल गया था। वह झपाटे से अपनी चारपाई के सिरहाने पहुँचा। हार वहीं पडा था। सोचने लगा, अब इसे रात को दबाना चाहिए। दिन में किसी को सन्देह भी हो गया, तो लेने के देने पड जायँगे। यह निश्चय करके उसने हार कमर में लपेट लिया, और अपने काम में लग गया। परन्तु सारे दिन चिन्ता लगी रही। बार-बार कमर टटोलता था, और देखता था, कि हार वहीं है न?

रात को रौनकी ने दरवाजा बन्द किया और भूमि खोदने लगा। मगर हाथों में शक्ति न थी। हृदय इस प्रकार धड़क रहा था, जैसे कोई सिपाही पकड़ने आ रहा हो। शरीर वर्षों के रोगी के समान निढाल हो रहा था। यह होनेवाली घटना का पूर्वरूप था, पर रौनकी इसको न जानता हुआ अपने काम में लीन था। उसके हाथ-पैर न चलते थे। परन्तु वह भूमि खोद रहा था। सहसा किसी ने दरवाजे पर हाथ मारा। रौनकी के मुख से पसीने की बूँदें टपकने लगीं। सरदी के दिन थे, पर उसे पसीना आ रहा था, तथापि उसने साहस से पूछा—"ऐसे वक्त कौन है ?"

"दरवाजा खोल दे।"

रौनकी का रङ्ग उड़ गया। वह रायसाहब की आवाज थी। शेर की गर्ज सुनकर जो दशा बकरी की होती है वही दशा इस आवाज को सुनकर रौनकी की हुई। उसे अपना अपमान आँखों के सामने खड़ा दिखाई दिया। उसने बोलना चाहा, परन्तु कण्ठ से शब्द न निकल सका। रायसाहब ने कड़ककर कहा—"दरवाजा खोल दे।"

रौनकी ने लपककर हार को बिस्तर के नीचे छिपा दिया। टिम-टिमाता हुआ दीपक बुझा दिया और दरवाजा खोला। उस समय उसके पाँव मन मन के भारी हो रहे थे। रायसाहब ने अन्दर आते ही कहा, "दीपक क्या हुआ ?"

रौनकी ने उत्तर दिया—"सरकार! बुझा दियो।"

"अभी तो जल रहा था। बुझा क्यो दिया? जल्दी जलाओ, एक मिनट में।"

रौनकी की शङ्काएँ पक्की होने लगीं, इधर-उधर झाँकने लगा। वह चाहता था कि यह समय टल जाय तो पीछे सैकड़ो उपाय सोचे जा सकते है। समय अपराध के छिपाने के लिए सबसे बड़ी सहायता है। मगर रायसाहब ने उसे समय न दिया। जेब से दियासलाई निकालकर स्वय दीपक जला दिया और भूमि की ओर देखकर बोले—"यह तू क्या कर रहा था इस वक्त ?"

रौनकी ने हाथ बाँधकर उत्तर दिया—"सरकार जो महीना मिलता है उससे बचा बचा कर किसी वक्त के लिए मैं यहाँ कुछ दाब दिया करता हूँ।"

"परन्तु आज क्या दाबने लगा था? अभी तो महीना भी नहीं मिला तुझे।"

रौनकी का मुँह बन्द हो गया। वह चुपचाप रायसाहब की तरफ देखने लगा। रायसाहब ने आगे बढ़कर जमीन से मिट्टी हटाई और रुपयों की पोटली देखी। फिर बिस्तर हिलाया। उनका विचार था कि कदाचित रौनकी ने जुआ खेला है, क्योंकि उससे और किसी प्रकार के पाप की उन्हें जरा भी आशङ्का नहीं थी। परन्तु उन्हें यह देखकर कैसा आश्चर्य हुआ कि रौनकी के बिस्तर के नीचे हार पड़ा है। वह उसे देखकर सिर से पाँवों तक काँप गये। अगर कोई दूसरा नौकर यही काम करता, तो सम्भव है, रायसाहब उसे क्षमा कर देते। परन्तु रौनकी को रँगे हाथों देखकर उनका रक्त उबलने लगा। उन्होंने अत्यन्त नम्रता से, जो प्रचण्ड क्रोध से भी अधिक भयानक होती है, पूछा—"यह हार कैसे उड़ाया? यह तो अभी थोड़े ही दिन हुए हमने खरीदा था।"

रौनकी में चाहे लाखों अवगुण थे, मगर वह चोर न था। इस गुण के लिए रायसाहब प्रायः उसकी प्रशंसा किया करते थे। इस समय उसकी वह सारी कीर्ति मिट्टी में मिलने लगी थी। रौनकी ने सोचा अब सारी घटना साफ साफ कह देनी चाहिए। पूरनचन्द रायसाहब का बेटा ही है, उसे खा तो नहीं जायेंगे। यह सोचकर उसने धैर्य्य के साथ सिर ऊँचा किया और हाथ बाँध कर उत्तर दिया—"सरकार! मामला यों है कि.... ... .

इतने में उसकी दृष्टि पूरनचन्द पर गई। वह इस तरह काँप रहा था, जैसे किसी को बुखार चढ रहा हो। उसने एक विचित्र भाव से रौनकी की ओर देखा, और सिर झुका लिया। रौनकी को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे पूरनचन्द ने उससे कहा है—"तुम कमीने ही निकले। मैंने तुम

पर विश्वास किया परन्तु तुम इसके योग्य न थे। यदि मैं पहले सोचता तो इस समय इस तरह अपमान न होता। तुम विश्वास के योग्य न थे।"

जिस प्रकार वायु का रुख बदलने से पतङ्ग का रुख बदल जाता है, उसी प्रकार इस दृष्टि से रौनकी का विचार बदल गया। उसने निश्चय कर लिया कि स्वयं अपमान सह लूँगा, परन्तु पूरनचन्द पर उँगली न उठने दूँगा। यह सोचकर उसने रायसाहब से कहा—"मामला यों है कि मैंने चोरी करी है। अब चाहे फँसा दो, चाहे बख्श दो। अब तो भूल हो गई है।"

रायसाहब उसकी चारपाई पर बैठ गये। इस समय उनको ऐसा दुःख हुआ, मानो लाखों की हानि हो गई हो। परन्तु पूरनचन्द मन ही मन में उसकी सराहना कर रहा था। संसार में ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं जो अपने स्वार्थ के लिए दिन-रात झूठ बोलते रहते हैं। परन्तु दूसरों के लिए झूठ बोलनेवालों की संख्या कितनी है?

रायसाहब थोड़ी देर चुप रहे और फिर बोले—"तुम सवेरा होने से पहले-पहले मेरे मकान से निकल जाओ। बस तुम्हारी यही सजा है।"

रौनकी और पूरनचन्द दोनों की आँखों में आँसू आ गये।

(६)

इसके एक वर्ष बाद रायसाहब सुरजनमल का देहान्त हो गया।

अब सारे रुपये-पैसे का स्वामी पूरनचन्द था। उसने क्रिया-कर्म से निपटकर रौनकी के नाम चार सौ मनीआर्डर भिजवा दिया, और साथ ही पत्र लिखा कि तुम तुरन्त मेरे पास आ जाओ। परन्तु एक सप्ताह बाद मनीआर्डर वापस आ गया। साथ ही रौनकी के भाई का पत्र आया, जिसमें लिखा था कि उसे मरे हुए एक वर्ष हो गया है। वह जबसे आपके यहाँ से आया तबसे वह सदा उदास ही रहा। यह उदासी उसके मुख से मरणकाल तक नहीं गई। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे उसे कोई रोग है। परन्तु क्या रोग है, यह किसी को पता नहीं लग सका। यही रोग उसे खा गया।

पूरनचन्द पर इस पत्र का ऐसा प्रभाव हुआ कि कई दिन तक रोता रहा। अब उसने जुआ खेलना छोड दिया है। उसने रौनकी के नाम पर एक धर्मशाला बनवा दिया है। उसमें उसकी मूर्ति रक्खी है। लोग उसकी मूर्खता पर हँसते हैं। परन्तु वह समझता है कि रौनकी के बलिदान के सामने इसकी इतनी भी गणना नहीं है जितनी सूर्य्य के सामने एक तुच्छ परमाणु की हो सकती है। रौनकी स्वामि-भक्त था, पूरनचन्द दासभक्त है।

अँधेरी दुनिया

(१)

मुझमें और तुममें बहुत फर्क है। तुम हजारो चीज देखते हो मैं केवल आवाजें सुनती हूँ। पृथ्वी, आकाश, बाग-बगीचे, बादल, चन्द्रमा तारे यह मेरे लिए ऐसे रहस्य है जो कभी न खुलेंगे। पर्वत और खोह में मेरे निकट एक ही भेद है और वह यह कि पर्वत के ऊपर चढ़ते समय दम फूल जाता है, खोह में उतरते समय गिरने का भय लगा रहता है। जब लोग कहते है यह पर्वत कैसा सुन्दर है, वह खोह कैसी भयानक है, तब मैं इन दोनों के अर्थ नहीं समझ सकती। अपने मस्तिष्क पर आत्मा की पूरी शक्ति से जोर डालती हूँ, परन्तु मस्तिष्क काम नही करता और मैं सटपटाकर रह जाती हूँ। शस्यश्यामल खेतो की हरियाली, सुनील जल के स्रोतो की सुन्दरता, बच्चों की मनोहरता, पुरुष का सौन्दर्य, स्त्री का रूप-लावण्य, इन्द्रधनुष का रङ्ग, काली घटा का जादू, चन्द्रमा की छटा, फूलों का निखार, यह शब्द मेरे लिए विस्तृत और अन्धकारमय वायु-मण्डल के भिन्न-भिन्न भागो के नाम है। इसके सिवा मैं और कुछ न समझ सक ी हूँ, न समझती हूँ। मैं अन्धी हूँ, मेरा संसार एक अँधेरा लम्बा सफर है और शब्द उसके पड़ाव है। जिस तरह कहते है, समुद्र में तरगें उठती है और बैठ जाती है, उसी तरह मेरी अँधेरी दुनिया में अनेक शब्द उठते है और मर जाते है। मैं शब्द को जानती हूँ, शब्द को पहचानती हूँ; और उन्हीं की सहायता से सौन्दर्य, जीवन और आयु का अनुमान करती हूँ। जब मैं किसी बालक की तोतली बातें सुनती हूँ और जब मेरा मन उन्हें पसन्द करता है तब मैं समझ लेती हूँ कि सुन्दरता इसी मीठी वाणी का नाम है। जब मैं किसी पुरुष को बातें करते पाती हूँ और उसकी बातों में मुझे वह वस्तु प्रतीत होती है जो कभी चन्द्रमा की चांदनी में और कभी शीतकाल की धूप में होती है, तब तुरन्त जान लेती हूँ

कि जवानी इसी को कहते हैं। और जब मैं किसी काँपती हुई आवाज को और उसके अन्दर मर मर जाते हुए शब्दों को सुनती हूँ तब मुझे विश्वास हो जाता है कि यह मनुष्य बूढ़ा है और धीरे-धीरे अपने शब्दो की तरह काँप-काँप कर खुद भी मर रहा है। थोड़े ही दिनो में अपने स्वर के समान स्वयं भी मर जायगा और संसार के लोग जिस तरह उसके जीवनकाल में उसकी आवाज की परवा नहीं करते थे, ठीक उसी तरह मरने के बाद उसकी मौत की परवा भी नहीं करेंगे। इतना ही नहीं, मैं क्रोध और दुःख, भय और आनन्द, प्रेम और दया, आश्चर्य और विस्मय सब भावों को शब्द से ही पहचान लेती हूँ। मैं अन्धी हूँ, मेरे कान ही मेरी आँखें हैं। तुम देखते हो, और सुनते हो। मैं सिर्फ सुनती हूँ। मेरे लिए देखना नहीं है। मेरे लिए देखना मना है।

(२)

मैं पजाबिन हूँ, मगर मेरा नाम बङ्गालिनों का-सा है। मैंने अपने सिवा किसी दूसरी पंजाबिन लडकी का नाम रजनी नहीं सुना। मेरे पिता उपन्यासो के बहुत शौकीन हैं। सुना है, दिन-रात पढ़ते रहते हैं। उन्होंने बँगला का एक उपन्यास रजनी पढ़ा और फिर मुझे भी रजनी के नाम से पुकारने लगे। इसके बाद मेरा नाम यही मशहूर हो गया। वे धनवान हैं। उन्हें रुपया-पैसा की कमी नहीं। मगर मेरी ओर से प्रायः दुःखी रहते हैं। मैं भागवान् घर में आई, परन्तु अभागिन बनकर। मेरे माता पिता मुझे देखते ही ठण्डी साँस भरकर चुप हो जाते और देर तक चुपचाप बैठे रहते। मैं जान लेती थी कि इस समय मेरे संसार का अन्धकार उनके हृदय के अन्दर समा गया है और उनकी आँखो के आँसू उनके गालो पर बह रहे हैं। मैं उनका दुःख दूर करना चाहती थी, मगर मेरे किये कुछ होता न था और मेरी बेकसी और मेरी बेबसी मेरे अन्धे मुख पर गरमी और लाली के रूप में प्रकट हो जाती थी।

मैं जवान हुई तो मेरे माता-पिता की चिन्ता बढ़ने लगी। पहले पहल तो मुझे उनकी चिन्ता का कारण मालूम न था, मगर थोड़े ही दिनो

में सब कुछ समझ गई। वह मेरे व्याह के लिए दुःखी थे। सोचते थे, इस अन्धी लड़की से कौन व्याह करने को तैयार होगा। यह दुःख उन्हें अन्दर ही अन्दर खाये जाता था। सदा उदास रहते थे। मुझे अपने दुर्भाग्य का पहली बार अनुभव हुआ। इससे पहले मुझे यह कल्पना तक न थी कि विधाता ने मेरी आँखें छीनकर मुझपर कोई अत्याचार किया है। मैं अपनी अँधेरी दुनिया में प्रसन्न थी। परन्तु अब सोचती थी, क्या जो परमात्मा अन्धा कर सकता है, वह यह नहीं कर सकता कि अन्धे कभी जवान न हो न उनका शरीर कभी बढ़े-फूले। यदि यह हो जाय तो अन्धे अपने जीवन की भयानकतर विपत्तियो से बच जाँय और उन्हें अपने दुर्भाग्य पर दुःख और क्रोध प्रकट करने की आवश्यकता कभी प्रतीत न हो। मैंने अपने कमरे के दरवाजे वन्द करके यह प्रार्थना पता नहीं कितनी बार की, परन्तु उसे परमात्मा ने कभी स्वीकार न किया। यहाँ तक कि मैं परमात्मा और परमात्मा की दया दोनों से निराश हो गई और मुझे विश्वास हो गया कि परमात्मा नही है, और यदि है तो अत्याचारी, बेपरवा और निठुर है। परन्तु अब विचार वदल गये हैं।

मैं सुन्दरी थी। मेरा रूप, मेरा रङ्ग, मेरा आकार सब मन को मोह लेनेवाला था। यह मेरी नही मेरी सहेलियों की राय थी। मैं केवल यह जानती थी कि मेरे स्वर में मिठास है। मैं अन्धी हूँ, अपनी तारीफ अपने मुख से करना अच्छा नही लगता परन्तु अपना स्वर सुनकर मैं कभी-कभी स्वयं झूमने लग जाती थी। सुना है, हरिण अपनी कस्तूरी की सुगन्ध में पागल होकर उसे ढूँढ़ता फिरता है। मैं भी अपने स्वर की सुन्दरता पर, यदि उसे सुन्दरता कहा जा सकता हो, मोहित थी। मैं उसे छूना, हाथों से पकड़ना, दिल से लगाना चाहती थी। मगर मेरी यह मनोकामना न पूरी हो सकती थी, न होती थी। मैं सुन्दरी थी। मेरा स्वर मीठा था परन्तु अन्धी की सुन्दरता देखनेवाला कोई न था। यह विचार मेरी अपेक्षा मेरे माता-पिता के लिए अधिक दुःखदायी था। जब कभी अकेले होते मेरे दुर्भाग्य की चर्चा छिड़ जाती। कहते यह उत्पन्न ही क्यो

हुई, और जो हुई थी तो बचपन ही में मर क्यो न गई। अब जवान हुई है, वर नहीं मिलता। रूप-रङ्ग देखकर भूख मिटती है, परन्तु आँखों के अभाव ने सारा काम बिगाड़ दिया। अब क्या करें, परमात्मा ही है जो बिगडी बन जाय, और तो कोई उपाय नहीं है।

यह बातें सुनकर मेरे कलेजे में आग सी लग जाती थी। और आँखों में पानी आ जाता था।

(३)

सायङ्काल था। मैं अपने कमरे में बैठी अपने भाग्य को रो रही थी। एकाएक ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई कमरे में आ गया है। यह मेरे पिता न थे, न मा थी, न नौकर। मैं उन सबके पैरों की चाप को पहचानती थी। यह पैर मेरे कानो के लिए नये थे। मैंने सिर का कपडा सँभाल-कर पूछा–

"कौन है?"

किसी ने उत्तर दिया–मै"

मैं चौंक पडी। मेरे शरीर में एक सनसनी सी दौड गई। यह-लाला कर्त्ताराम बैरिस्टर के सुपुत्र लाला सीताराम थे। कुछ दिन पहले हमारे यहाँ प्रायः आते-जाते रहते थे। उनसे और मेरे पिता जी से बहुत प्यार था। घर की सी बात थी। उनके रूप-रङ्ग के सम्बन्ध में मैं क्या कह सकती हूँ। हाँ उनकी आवाज बहुत सुकोमल और रसीली थी। वे जब बोलते थे तो मैं तन्मय हो जाती थी। जी चाहता था, उन्हीं की बातें सुनती रहूँ। उनमें दिल को खींच लेने की शक्ति थी। मुझे वे दिन कभी न भूलेंगे जब वे नेम से हमारे घर आते और केवल मेरी बातें किया करते थे। उनकी इच्छा थी और इस इच्छा को उन्होंने कई बार प्रकट भी कर दिया था कि रजनी का ब्याह जल्दी कर देना चाहिए। मेरे पिता कहते, मगर उसे ब्याहना स्वीकार कौन करेगा? यह सुनकर वे चुप हो जाते। फिर थोड़ी देर पीछे ठण्डी साँस भरते और तब उनके उठकर टहलने की आहट सुनाई देती। इस समय

वे कैसे व्याकुल, कितने उदासीन होते थे, यह मैं अन्धी भी समझ जाती थी। उनकी इन सहानुभूतियों ने मेरे हृदयपट पर कृतज्ञता का भाव अङ्कित कर दिया। म उनके आने की बाट देखती रहती थी। यदि न आते तो उदास हो जाती थी। खाने पीने की सुध न रहती थी। इसी तरह छः महीने निकल गये। इसके बाद उन्होने हमारे यहाँ आना-जाना छोड़ दिया और आज पूरे एक साल बाद आये। मै बैठी थी, खड़ी हो गई। इस समय मेरे शरीर का रोम-रोम खिल गया था। धीरे से बोली–"इतने समय तक कहाँ रहे?"

"यही था।"

"बड़े कठोर हो। यदि यहीं थे तो आये क्यो नही?"

कुछ उत्तर न मिला मेरा कलेजा धडकने लगा। खयाल आया, कहीं बुरा न मान गये हो। मैंने क्षमा माँगनी चाही, मगर किसी दैवी शक्ति ने जीभ पकड़ ली। उन्होंने थोडी देर ठहर कर कहा–"रजनी!"

मैंने यह शब्द उनके मुँह से सैकड़ो बार सुना था, मगर जो बात इसमें आज थी वह इससे पहले कभी न थी। स्वर काँप रहा था, जैसे सितार के तार हिल रहे हो। उसमें कैसी मिठास थी, कैसी मोहनी और उसके साथ मिली हुई विकलता और प्रेम! मेरे दिल पर जादू सा छा गया। एक क्षण के लिए मैं भूल गई कि मैं अन्धी हूँ। ऐसा जान पड़ता था कि मैं आकाश में उड़ी जा रही हूँ और मेरे चारो ओर कोई मधुर सङ्गीत अलाप रहा है। यह क्षण कैसा सुखद, कैसा अनमोल था, उसे मै आज तक नहीं भूल सकी। आठ वर्ष बीत चुके है। इस सुदीर्घकाल में कई अवसर ऐसे आये, जब मैंने यह अनुभव किया कि मेरी आत्मा स आनन्द के बोझ को सहन न कर सकेगी। परन्तु यह अवसर उस एक क्षण के आनन्द के सामने तुच्छ है; जब मुझे यह खयाल न रहा था कि मैं अन्धी हूँ और मेरी आँखें दुनिया की बहार देखने से वञ्चित है। सहसा मुझे स्थान, समय और स्थिति का सुबोध हुआ। मैं अपनी लज्जा के बोझ तले दब गई और आत्मा की पूरी शक्ति से केवल एक शब्द कह सकी।

"क्यों ?"

"तुम्हारा ब्याह होगा।"

मेरा मुँह लाल हो गया, जैसे किसी ने तमाचा मार दिया हो। फिर भी साहस से बोली—"मैं अन्धी हूँ। आप यह बात भूल रहे हैं।"

"क्या मतलब ?"

"मेरे साथ कौन ब्याह करेगा ?"

अब सोचती हूँ कि उस समय ये शब्द कैसे कह दिये थे। परन्तु अन्धी के लिए साहस कोई बड़ी बात नही है। लज्जा आँखो में होती है, और अन्धी न दूसरे को देख सकती है न यह जान सकती है कि कोई दूसरा उसे देख रहा है। सीताराम कुछ देर चुप रहे। उनकी यह चुप्पी मेरे लिए संसार का सबसे बड़ा दण्ड था। ऐसा जान पडता था कि मेरे भाग्य की परीक्षा हो चुकी है और अब परिणाम निकलने को है। मेरे प्राण होठो तक आ गये। एकाएक वे आगे बढ़े और मेरे सिर पर धीरे से अपना हाथ रखकर बोले—"रजनी ! तुम्हारे साथ मैं ब्याह करूँगा।"

मेरे सिर से बोझ उतर गया। मालूम होता है, दिल के भाव मुँह पर से पढ़े जा सकते है। क्योंकि सीताराम ने दूसरे क्षण में मुझे अपने बाहु-पाश में ले लिया और मेरा मुँह प्रेम से बार बार चूमने लगे। मैं घबरा गई। मैं हैरान रह गई। मैं पागल हो गई।

उस रात मुझे नींद न आई। उसका स्थान आनन्द ने ले लिया था। ऐसा प्रतीत होता था, मानों मैं अपनी अँधेरी दुनियाँ पर राज कर रही हूँ, और मेरा ससार मेरे प्रेम के अमर संगीत से भरपूर हो चुका है। चारो तरफ खुशी थी, चारो तरफ रोशनी थी।

एक मास भी न बीतने पाया कि मेरा ब्याह हो गया।

(४)

अब मेरे जीवन का दूसरा परिच्छेद शुरू हुआ। इस समय तक मैं शब्दशाला में बसती थी, अब प्रेम-पुरी में पाँव धरे। वे मुझे चाहते थे। मुझे प्यार करते थे। मेरे बिना रह न सकते थे। प्रायः रमो

हाथ अपने हाथ में ले लेते और मेरी प्रशंसा के पुल बाँध देते थे। कहते—मैंने सैकड़ों युवतियाँ देखी हैं परन्तु तुम सरीखी सुन्दरी आज तक न देखी है, न देखने की सम्भावना है। मैं पहले पहल ये बातें सुनकर अपना मुँह हाथों से छिपा लेती थी। मगर धीरे-धीरे यह झिझक दूर हो गई, जैसे हर एक विवाहिता रमणी के लिए इस प्रकार की ठकुर-सुहातियाँ सुनना एक साधारण बात हो जाती है। वे मेरे लिए दर्पण का काम देते थे। मैं अपनी आँखो से नहीं, वरन अपने कानो से उनकी बातो में, अपनी प्रशंसा में अपना रूप-रंग देखकर गर्व से झूमने लग जाती और समझती कि मुझ सी सौभाग्यवती स्त्रियाँ संसार में अधिक न होगी। इस सौभाग्य ने मेरी कई सखियाँ बना दीं। मेरा आँगन हास-विलास से गूँजता रहता था परन्तु इस हास-विलास के अन्दर, इस मधुर संगीत के नीचे कभी कभी व्याकुलता का अनुभव होने लगता था, जैसे बिल्ली के गुदगुदे पैरो में तीक्ष्ण नख छिपे रहते हैं, मैंने अपनी एक-एक सखी से उसके जीवन के गुप्त रहस्य पूछे और तब मैंने यह तत्व समझा कि संसार में प्रत्येक् वस्तु वह नहीं जो (दिखाई नहीं प्रत्युत) सुनाई देती है। न ससार में वह अभागा है जिसे प्राय: अभागा समझा जाता है। उनकी बातों ने मेरे सुखमय जीवन को और भी सुखमय बना दिया। वे मुझसे कभी रुष्ट न होते थे, न कभी मुझे बुरा भला कहते थे। वे इसे मनुष्यत्व से गिरा हुआ समझते थे। सोचते थे, यह गरीब मन में क्या कहेगी। मेरे नेत्रों का अभाव मेरे लिए दैवी सुख का कारण बन गया। मेरा काम वे स्वयं करते थे। मैं रोकती तो कहते, "इससे मुझे आनन्द मिलता है। तुम कुछ खयाल न करो। संसार की सारी स्त्रियाँ अपने पतियो की सेवा करती हैं। अगर एक पति अपनी स्त्री का थोड़ा सा काम कर देगा तो संसार में प्रलय न आ जायगा।" उनके पास रुपया था, कई नौकर थे, परन्तु नौकर जनाने में न आ सकते थे। रोटी बनाने के लिए एक मिसरानी थी, मेरा जी बहलाने के लिए एक और स्त्री। मगर फिर भी कई काम ऐसे होते है, जो गृहिणी को स्वयं ही करने पड़ते हैं। पर मैं अन्धी

थी, इसलिए ऐसे काम वे खुद करते थे, और उस समय ऐसे प्रसन्न होते थे जैसे बच्चे को बढ़िया खिलौने मिल गये हों। उनकी दिल-जोइयों ने मुझे उनकी पुजारिन बना दिया। मैं उनकी पूजा करने लगी। सोचती थी, ऐसे आदमी भी संसार में थोड़े होंगे। उन्हें मेरी क्या परवा है। चाहें तो मुझ जैसी बीसियो खरीद लें। यह उनके लिए जरा भी मुश्किल नहीं। परन्तु वे फिर भी मुझे चाहते हैं, मानो मैं किसी देश की राज-कुमारी हूँ। मैं पहले उनसे प्रेम करती थी, फिर उनकी पूजा करने लगी। प्रेम ने श्रद्धा का रूप धारण कर लिया। मेरा जीवन जीवन न था, सुखमय स्वप्न था, जो भय, अधीरता, अशान्ति और दुःख से कभी नष्ट नहीं हुआ था। उनके प्रेम ने मेरी बदनसीबी की त्रुटि पूरी कर दी। वह मेरे अन्धकारमय ससार के दीपक थे, उनकी बातचीत मेरे नीरस जीवन का सरस सगीत। मै चाहती थी, वे मेरे पास से कही उठकर न जायें। मैं उनके एक-एक पल, एक-एक घड़ी, एक-एक क्षण पर अधिकार जमाना चाहती थी। जब कभी वे आने में थोडी सी भी देर कर देते, तो मेरा दम घुटने लगता था, मानों कमरे से हवा निकाल दी गई हो। यह व्याकुलता कैसी जीवनमय है, कैसी प्रेमपूर्ण? इसे साधारण लोग न समझेंगे। इसको केवल वही जान सकते है जिनके हृदय को प्रेम के अन्धे देवता भगवान् कामदेव ने फूलो के तीर मार-मारकर घायल कर दिया हो और जिसके घाव ही उसके जीवन की जोत और जवानी हों। इस मजे को कोई दूसरा क्या समझेगा?

इसी तरह पाँच साल का समय, जिसे प्यार और सुख के जीवन ने बहुत छोटा बना दिया था, बीत गया, और मैं एक बच्चे की माँ बन गई। मेरे आनन्द का ठिकाना न था। यह बच्चा मेरी और उनकी परस्पर प्रीति की जीती-जागती मूर्ति था, जिस पर हम दोनो जी-जान से निछावर थे। यह बच्चा (मैंने सुना) बहुत सुन्दर था। मेरी सखियाँ कहती थीं, तुम रजनी (रात्रि) हो, तुम्हारा बेटा सूरज है। इसका रूप मन को मोह लेता है। जो देखता है, प्रसन्न हो जाता है। मैं यह सुनकर

फूली न समाती। हृदय में हर्ष की तरगें उठने लगतीं, जिस तरह किसी ने बाजे पर हाथ रख दिया हो। फिर पूछती, इसकी आँखें कैसी हैं। वे जवाव देतीं, बड़ी, हिरन का बच्चा मालूम होता है; परमेश्वर ने माँ की कसर बच्चे की आँखों में निकाल दी है। इसे देखकर कौन कहेगा कि यह किसी नयनहीना का पुत्र है।

स्त्री की कई स्थितियाँ हैं। वह बेटी है, बहन है, स्त्री है। परन्तु जो प्रेम उसमें माँ बनकर उत्पन्न होता है उसकी उपमा इस नश्वर ससार में न मिलेगी। मुझे अपने माता-पिता से प्रेम था, अपने पति पर श्रद्धा थी। उनको देखने के लिए मैं कभी-कभी अधीर हो उठती थी। मगर उस अधीरता की इस नई अधीरता के साथ कोई तुलना न थी, जो अपने बच्चे का मुँह चूमते समय, उसकी आँखो पर हाथ फेरते समय, उसे हृदय से लगाते समय मेरे नारी-हृदय में उत्पन्न हो जाती थी। उस समय मैं घबराकर खड़ी हो जाती, और परमात्मा के विरुद्ध सैकड़ो शब्द मुख से निकाल देती। मैं चाहती थी, आह! नहीं बता सकती, कितना चाहती थी कि मेरी आँखें एक क्षण के लिए खुल जायँ और मैं अपने बच्चे को एक नजर देख लूँ। परन्तु यह इच्छा पूरी न होती थी। मैं अपने दुर्भाग्य को अब अनुभव करने लगी। मगर कुछ बनता न था। मैं व्याकुल रहने लगी।

(५)

धीरे-धीरे मेरी व्याकुलता ने उन्हें भी व्याकुल कर दिया। एक घर में आग लग गई हो तो धुआँ दूसरे घर में भी पहुँच जाता है। वे भी प्रायः उदास रहने लगे। वे मेरे भावो को समझ गये थे। अब उनके स्वर में वह मनोहरता न थी, न शब्दो में वह सरसता थी। बात-चीत के ढंग में भी अन्तर आ गया था। बोलते-बोलते चुप हो जाते। हँसते-हँसते उदास हो जाते। निस्सन्देह उस समय यदि मेरे नेत्रों से अन्धकार का पर्दा उठ जाता, तो मैं उनके पलको पर आँसुओ की बूँदो

के सिवा और कुछ न देखती। एक दिन बाहर से आये, तो घबराये हुए थे। आते ही बोले—"रजनी!"

मैंने धीरे से उत्तर दिया—"जी।"

"तुम कब अन्धी हुई थीं? मेरा खयाल है, तुम जन्म से अन्धी नहीं हो।"

"नहीं।"

"तो तुम्हारी आँखें खराब हुए कितना समय हुआ?"

"मैं उस समय तीन साल की थी।"

"तुम्हें अच्छी तरह याद है। तुम्हें विश्वास है?"

"हाँ। इसमें जरा भी सन्देह नहीं।"

उन्होंने मुझे खींचकर गले से लगा लिया और बोले—"परमात्मा को धन्यवाद है। एक बार अन्तिम प्रयत्न करूँगा, और मेरा प्रयत्न सफल होगा।"

आवाज से मालूम होता था, जैसे उनके सिर से कोई बोझ उतर गया है। मैंने उनके मुख पर हाथ फेरते हुए पूछा—"बात क्या है? कैसा प्रयत्न, कैसी सफलता?"

"मैं चाहता हूँ, तुम्हारी आँखें खुल जायँ, तुम भी संसार के अन्य जीवों के समान देखने लगो। मेरे उस समय के आनन्द का कोई अनुमान नहीं लगा सकता। आह! यदि ऐसा हो जाय तो—मजा हो जाय, आनन्द आ जाय, संसार स्वर्ग बन जाय।"

यह कहते-कहते वे अपने काल्पनिक सुख में निमग्न हो गये। थोड़ी देर के बाद फिर बोले—"डाक्टर कहते हैं कि जन्म के अन्धों के सिवा सबकी आँखें ठीक हो सकती हैं। मगर डाक्टर उस्ताद होना चाहिए। मेरा एक मित्र अमरीका गया था, हाल ही में आँखें बनाना सीखकर आया है। थोड़े ही समय में उनके नाम की दूर-दूर तक धूम मच गई है। आज उनसे भेंट हुई। बड़े प्रेम से मिले और बलात् खींचकर अपने मकान पर ले गये। वहाँ बात-चीत में तुम्हारा जिक्र आ गया। बोले—

"अगर जन्मान्ध नहीं तो मैं एक महीने में ठीक कर दूँगा। मेरे पास लाओ, एक बार देख लूँ तो फिर ठीक-ठीक कहूँ।"

मैं कुछ देर चुप रही फिर बोली-"रहने दो, मैं अच्छी होकर क्या करूँगी।"

"नहीं, अब मैं अपनी ओर से पूरी पूरी कोशिश करूँगा।"

"मुझे डर है कि मैं—"

"जब आँखें खुल गईं तो प्रसन्न हो जाओगी।"

"और अगर प्रयत्न निष्फल गया तो फिर?"

"भगवान का नाम लो। उसी के हाथ में सबकी लाज है। इस समय सौ से अधिक अन्धों का इलाज कर चुका है, परन्तु एक के सिवा सब उसके गुण गा रहे हैं। सबकी आँखें खुल गई हैं।"

मैंने धड़कते हुए दिल की धड़कन दबाकर कहा—"ऐसा योग्य आदमी है वह?"

"योग्य क्या इस युग का धन्वन्तरि है।"

"तो तुम्हें आशा है मैं देखने लगूँगी।"

"आशा की क्या बात है। मुझे तो पूरा विश्वास है कि अब मेरा भाग्य पलटने में देर नहीं।"

मैंने बेटे को हृदय से लगा लिया और रोने लगी। हृदय में विचार-तरंगें उठने लगीं। अब वहाँ निराशा की शान्ति नहीं रही थी, उसका स्थान आशामयी अशान्ति ने ले लिया था। मस्तिष्क में सहस्रों विचार आ रहे थे। उनके, पुत्र के, पृथ्वी-आकाश के, फूलों के, सूरज के, चाँद-तारों के, रूप के विषय में अनुमान के घोड़े दौड़ा रही थी। सोचती थी, आँखें खुल जायें तो एक मन्दिर बनवा दूँ, तीर्थ-यात्रा करूँ, ग़रीब विधवाओं को दान दूँ, और अनाथालयों के नाम चन्दा बाँध दूँ। माता-पिता सुनेंगे, तो दंग रह जायेंगे, सहेलियाँ बधाई देने आयेंगी, परन्तु इस खुशी में एक बड़ा भोज देना आवश्यक हो जायगा। उनकी कितनी उत्कण्ठा है कि शाम को मुझे साथ लेकर बग्घी पर निकलें, परन्तु नेत्रों का दोष रास्ता रोक लेता है। अगर डाक्टर का परिश्रम सफल हो जाय

तो हाथो के कड़े उतार दूँ और उसकी पत्नी को बुलाकर रेशमी जोड़ा दूँ। सारी उम्र एहसान न भूलूँ।

मैं डाक्टर के आने की इस तरह प्रतीक्षा करने लगी, जैसे उसके आने के साथ ही मेरी आँखें खुल जायँगी। आशा ने मस्तिष्क को उलझन में डाल दिया था। दूसरे दिन वह डाक्टर को लाने गये, मैं पल गिनने लगी। मगर पल गुजरते न थे। एकाएक दरवाजे पर किसी मोटर के आकर रुकने की आवाज आई। मेरी देह काँपने लगी। निराशा के विचार ने गला पकड लिया। इतने में वे अन्दर आ गये और बोले–"डाक्टर साहब आ गये हैं।"

मैंने साड़ी को सिर पर ठीक कर लिया और सँभालकर बैठी, परन्तु हृदय जोर-जोर से धड़क रहा था। डाक्टर साहब मेरी आँखों को देखने लगे। कुछ देर सन्नाटा रहा और तब उन्होंने किलकारी मारकर कहा– "तुम्हें मुबारक हो कि तुम्हारी आँखें बन जायँगी। मुझे पूरा विश्वास है।"

जितना सुख किसी भिखारी को यह सुनकर होता है कि तुम्हें राज मिल जायगा उससे अधिक सुख मुझे डाक्टर साहब के इस बचन से हुआ और मैंने हठात् अपने स्थान से उठकर दोनों हाथ बाँधे और उमड़ते हुए हार्दिक भावों से काँपती हुई आवाज में कहा–

"डाक्टर साहब! आपका यह उपकार उमर भर न भूलूँगी। आपको दुआएँ देती रहूँगी।"

उस समय मेरी आवाज में प्रार्थना और प्रफुल्लता के वे अश मिले हुए थे जो केवल अपराधियो की ही आवाज में पाये जाते हैं। आँखों के खुल जाने की आशा ने वर्षों की शान्ति और सतोष को इस प्रकार उड़ा दिया था, जैसे किसी सेठ के आने से पहले-पहल मालिक-मकान अपने गरीब किरायादार को निठुरता से बाहर निकाल देता है।

(६)

आपरेशन हुआ और बड़ी सफलता से हुआ। वे फूले न समाते थे। कहते थे अब केवल थोडे दिनो की बात है, तुम संसार के हर

एक दृश्य को देख सकोगी। मेरा सुख पहले अधूरा था, अब पूरा होगा। मुझसे कहते, तुम्हें इस समय तक पता नहीं और यदि पता है, तो तुम पूर्ण रूप से अनुभव नहीं कर सकती कि आँखों का न होना तुमपर प्रकृति का कैसा अत्याचार था। जरा यह पट्टी खुल जाने दो, फिर पूछूँगा। एक दिन के लिए आँखें दुखने लगें और अँधेरे में बैठना पड़े तो कलेजा घबराने लगता है। जी चाहता है, दरवाजे तोड़कर बाहर निकल जायँ, परन्तु तुम लगातार कई वर्षों से इसी अवस्था में हो और फिर भी चुप हो, हँसती हो, मुस्कराती हो। तुम्हारा कितना कलेजा है, कितना धीरज है।

मैंने अपनी व्याकुलता से भरी हुई प्रसन्नता को छिपाने की चेष्टा करते हुए कहा—"तो क्या मैं देखने लगूँगी? यह आपको निश्चय है?'

"निस्सन्देह, तेरह दिन के बाद।"

"बहुत प्रसन्न हो रहे होगे?"

"कुछ न पूछो। मेरा एक-एक क्षण साल-साल के बराबर बीत रहा है। मैं झुँझला उठता हूँ कि यह समय शीघ्र क्यों नही बीत जाता। मैं तेरहवें दिन के लिए पागल हो रहा हूँ।"

"और यदि यह प्रसन्नता, यह आशा निर्मूल सिद्ध हुई, तो?"

"यह नही हो सकता। यह अस्म्भव है।"

"आशा प्रायः धोखे दिया करती है।"

"परन्तु यह आशा नहीं है, यह विश्वास है, बल्कि विश्वास से भी बढ़कर।"

सचमुच यह आशा नहीं थी। स्वयं मुझे भी निश्चय था कि यह आशा नही है। फिर भी मैंने उनके हृदय की थाह लेने और अपने विश्वास को और दृढ़ करने के विचार से पूछा—"क्यों विश्वास है, बल्कि विश्वास से भी बढ़कर?"

"डाक्टर ने कहा है?"

"परन्तु डाक्टर आदमी है, डाक्टर परमात्मा नही है।"

थोड़ी देर के लिए वे चुप हो गये जैसे आनन्द की कल्पना में

किसी दुःख का विचार आ जाय और फिर मेरे दोनों हाथों को अपने हाथो में दबाकर वोले–"डाक्टर अपनी विद्या में अद्वितीय है। उसका वचन झूठा नहीं हो सकता। मै इस समय ऐसा प्रसन्न हूँ, जैसे किसी राजा ने इम्पीरियल बैंक के नाम चिक दे दिया हो। अब रुपया मिल जाने में कोई सन्देह नही है। केवल तेरहवें दिन की प्रतीक्षा है। न राजा दिवालिया हो सकता है, न डाक्टर का बचन झूठा हो सकता है। तुम यों ही अपने सन्देह से मेरे हृदय को विकल कर रही हो। यह तुम्हारी जवरदस्ती है।"

वारह दिन बीत गये। अब केवल एक दिन बाकी था। सोचती थी, कल क्या होगा? कभी आशा हृदय की कली खिला देती थी, कभी निराशा हृदय में हलचल मचा देती थी। मैंने आंखो पर पट्टी बाँधकर बारह दिन बिता दिये थे, अब एक दिन बिताना कठिन हो गया। मुसाफिर पडाव के निकट पहुँचकर घबरा जाता है। उस समय उसके हृदय में कैसी उद्विग्नता होती है, कैसी अधीरता। वह घण्टो की राह मिनटों में तय करना चाहता है। बार-बार झुँझला उठता है, जैसी किसी ने काँटे चुभो दिये हो। यही दशा मेरी थी। मैं चाहती थी, यह दिन एक क्षण बनकर उड़ जाय और मैं पट्टी आँखों से उतारकर फेंक दूँ। परन्तु प्रकृति के अटल को किसने बदला है। समय ने उसी प्रकार धीरे-धीरे अपने मिनटों के पैरों से चलना जारी रक्खा। उसे मेरी क्या परवा थी? उसे किसी की भी परवा न थी।

सायंकाल था। वे कचहरी से वापस आये और सूरजपाल को (यह मेरे बेटे का नाम है।) उठाये हुए कमरे के अन्दर आये और मेरे पास बैठकर बोले–"कल इस समय क्या होगा जानती हो? जानती हो तो बताओ, कितनी खुशी होगी तुम्हें और कितनी खुशी होगी मुझे?"

मैंने हाथ बाँधकर ऊपर की ओर सिर उठाया और कहा–

"परमात्मा दया करे।"

"और वह दया करेगा।"

जैसे ढोलक पर हाथ मारने से गूँज पैदा होती है, उसी तरह इस वाक्य से मेरे हृदय में गूँज पैदा हुई। यह गूँज कैसी प्यारी थी, कैसी आनन्ददायक! इसमें दूर के ढोल का सुहावनापन था, स्वप्न-संगीत का जादू। सोचने लगी, क्या यह सम्मोहिनी निकट पहुँचकर भी ऐसी ही बनी रहेगी, क्या यह जादू जागने के बाद भी स्थिर रहेगा? एकाएक उन्होंने कहा—"कैसी गरमी है। बैठना मुश्किल हो गया।"

मैंने पङ्खें की रस्सी पकड़ ली और कहा—"पङ्खा करूँ?"

कमरे में गरमी कोई इतनी अधिक न थी, परन्तु वे बाहर से आये थे, इसलिए उनका दम घुटने लगा। क्रोध से बोले—"पङ्खा-कुली कहाँ गया। म मार-मारकर उसका दम निकाल दूँगा। पाजी कहीं का! पैसा लेता है, काम से जी चुराता है।"

"चलो जाने दो, बेचारा सारा दिन पंखा खींचता रहता है। थककर जरा बाहर चला गया होगा। खिड़की क्यो न खोल दूँ, सूरज भी घबरा रहा है।"

यह सुनकर वह उछल पड़े, जैसे किसी गठकतरे ने उनकी जेब में हाथ डाल दिया हो, बोले—"क्या कहती हो, खिड़की खोल दूँ? तुम्हें मालूम नहीं कि डाक्टर ने कितना सावधान रहने को कहा है। बार-बार ताकीद करते हैं, कि रोशनी से बचाओ। यह रोशनी आँखो की दुश्मन है, और तुम कहती हो खिड़की खोल दूँ।"

"परन्तु अब तो सायंकाल हो चुका है। कितने बजे होंगे इस समय?"

साढे छः बज चुके हैं।"

"तब अब क्या हर्ज है? थोड़ी सी खिड़की खोल दो, मेरी आँखो पर पट्टी बँधी है। इसमें क्या हर्ज है?"

उन्होंने बहुत कहा, पर मैंने एक न सुनी और उठकर खिडकी खोल दी। सूरज ने तालियाँ बजाई और खिल-खिलाकर हँसने लगा। उसकी हँसी देखने के लिए मै अधीर हो गई, परन्तु आँखो पर पट्टी बँधी थी, और डाक्टर ने मनाही की थी।

इतने में सूरज खिडकी पर चढ़ गया और खेलने लगा। वह इस समय बहुत ही प्रसन्न था। पछियों की नाई चहकता था। उसे कोई विचार, कोई भय, कोई चिन्ता न थी।

"सूरज शीशा छोड़ दो टूट जायगा।"

परन्तु सूरज ने सुना अनसुना कर दिया और शीशे के सामने खडा होकर अपना मुँह देखने लगा। एकाएक उसने (मैंने पीछे सुना था) शीशे में इस तरह मुँह बना कर देखा कि वे सहसा चिल्ला उठे—"जरादेखना।"

मुझे अपनी अवस्था का विचार न रहा। मैं भूल गई कि यह समय बड़ा विकट है। मैं अन्धी हूँ, मुझ एक दिन के लिए सन्तोष करना चाहिए इस समय की थोड़ी-सी असावधानी मेरे सारे जीवन को नाश कर देगी और फिर मेरी आँखो को कोई शक्ति किसी उपाय से भी न खोल सकेगी। मुझे यह विचार न रहा। मैं भूल गई। मैं पागल हो गई। मेरी ऐसी अवस्था आज तक कभी न हुई थी। मेरे हाथ मेरे बस में न रहे। उन्होंने पट्टी को उतारकर भूमि पर फेंक दिया और मैंने अधीर होकर आँखें खोलीं................

मैं देख सकती थी। मैंने एक ही दृष्टि में उनको, बेटे को और खिड़की में से दिखाई देनेवाले बाहर के बाग के एक भाग को देखा, और खुशी से चिल्ला उठी—"मैंने तुमको देख लिया।"

उन्होंने आश्चर्य, भय और प्रसन्नता की मिली-जुली दृष्टि से मेरी ओर देखा। परन्तु अभी मेरी आँखें उनकी आंखो से मिलने न पाई थीं, कि चारों ओर फिर अन्धकार छा गया और मेरी अँधेरी दुनिया ने उनकी प्यारी-प्यारी सूरतों को फिर अपने अन्दर छिपा लिया। मैंने ठण्डी आह भरी और पछाड खाकर गिर पडी। बैंक से रुपया मिल गया था और समय से पहले। परन्तु मेरी असावधानी ने उसे पानी में गिरा दिया। और पानी गहरा था, और उतरना असम्भव था।

अब मेरे लिए कोई आशा न थी। मैंने उसके द्वार अपने हाथों से बन्द कर लिये थे। कई दिन तक रोती रही। वे मुझे धीरज देते थे।

कहते थे, न सही तुम जीती रहो, इसी तरह निभ जायगी। मगर इन धीरज की बातो से मुझको सन्तोष न होता था, उलटा मेरे घावो पर नोन छिड़क जाता था। मेरा बिचार था कि एक बार आँखें खुल जाने से मै प्रसन्न हो जाऊँगी, यह झूठ सिद्ध हुआ। एक क्षण की दृष्टि से अपने दुर्भाग्य का दुःखमय अनुभव हो जाता है। इसका अनुमोदन हो गया।

(७)

कहते हैं हर एक काली घटा के गिर्द सफेद धारी होती है। मेरी विपत्ति अपने साथ एक ज्योति लाई। यह आशा की ज्योति न थी जो कभी बढ़ती है, कभी घट जाती है। यह नैराश्य विश्वास की ज्योति थी, जो सदा बढ़ती है, घटती नहीं। मैं पुत्र और पति दोनो को देख चुकी थी। सुना है, फूल सुन्दर होते हैं। अगर यह सच है, तो मैं कह सकती हूँ कि मैंने क्षण-मात्र की दृष्टि में दो अति सुन्दर फूल देखे हैं और उनसे अच्छी वस्तु देखना मेरे लिए सम्भव नहीं। वे आज भी मेरी अंधकारमयी सृष्टि से उसी तरह हरे-भरे और प्रफुल्लित हैं। उनकी सूरतें मेरे हृदय-पट पर अङ्कित हो चुकी हैं और संसार की कोई शक्ति, कोई वस्तु, कोई सत्ता उन्हें न मिटाती है, न मिटा सकती है। यदि मैं अधिक मनुष्य देख लेती तो कदाचित मुझे कभी-कभी उनका भी विचार आ जाता और वे भी मेरे हृदय की चित्रशाला में थोड़े से स्थान पर अङ्कित हो जाते। अथवा उनके चेहरों पर मेरे पति और पुत्र के चेहरों की रूप-रेखाएँ अस्त-व्यस्त हो जातीं। परन्तु अब यह आशंका नहीं रही। मैंने बाहर की ओर से आँखें बन्द करके उन दो सुन्दर मूर्तियो को अपने हृदय में अमर जीवन दे दिया है। अब वह अजर है, अमर है अटल है उन्हें वहाँ से कोई नही हटा सकता यहाँ तक कि समय का हत्यारा हाथ भी कुछ नहीं कर सकता।

कुछ समय के बाद नगर में चेचक फूट पड़ी। सूरजपाल रोके न रुकता था। दौड-दौड़ कर बाहर चला जाता था। वे कहते थे, इसे बाहर न निकलने दो, यह मेरे जीवन का आधार है, यदि इसे कुछ हो गया,

तो मेरा जीवन नष्ट हो जायगा। परन्तु बन्दर और बच्चे के पैरों में जजीर किसने डाली है? वह नौकरो की आँख बचाकर निकल जाता और कई-कई घण्टे लड़कों के साथ खेलता रहता था। अन्त में उसे भी इस रोग ने जकड लिया। वे घबरा गये। उनपर विपत्ति का पहाड़ टूट पडा। दिन-रात पास बैठे रहते थे। उन्होंने कचहरी जाना छोड दिया था। कहते थे, परमात्मा करे मैं, इस मुकद्दमा में जीत जाऊँ। मैं और कुछ नही चाहता, मेरा बच्चा बच जाय। जिस तरह हिरन अपने बच्चे को बचाने के लिए स्वयं अपने आपको मौत के मुँह में दे देता है, उसी तरह उन्होंने सूरजपाल की खातिर अपना जीवन खतरे में डाल दिया। हर समय उसके साथ लेटे रहते थे। परिणाम यह हुआ कि सूरजपाल की सेवा-सुश्रूषा करते-करते आप भी बीमार हो गये। अब मेरे व्याकुल हृदय में तूफान उठने लगे। मेरे पास केवल दो फूल थे। और उन दोनो को प्रकृति का निर्दयी हाथ तोड़ने के पीछे पडे था। परन्तु मैंने अपनी जान लडा दी और अपने दिखाई देनेवाले समान दिन-रात को उनकी सेवा में एक कर दिया। और परमात्मा ने मुझ अबला के परिश्रम को सफल किया–दोनों निरोग हो गये।

मेरे आनन्द का ठिकाना न था। आँगन में उछलती फिरती थी, जैसे किसी का डूबा हुआ धन मिल जाय। उन्होंने आकर कृतज्ञता के भाव से मेरा हाथ अपने निर्बल हाथ में लिया और धीरे से कहा– "तुमने हमें मृत्यु के मुख से खींचा है, नहीं तो–"

मैंने उनके मुँह पर हाथ रख दिया और कहा–"बस, बस, बस! इसके आगे एक शब्द भी न कहो। मेरे कान यह सुनने की शक्ति नहीं रखते।"

वे चुप हो गये, परन्तु थोड़ी देर के बाद मालूम हुआ कि वे रो रहे है। मेरे हाथ पर पानी की दो गरम बूँदें टपकी। मैं हैरान होकर बोली–

"क्यों रोते क्यो हो? अब तो कोई खतरा नहीं।"

यह सुनकर वे सिसकियाँ भर-भर रोने लगे। मैं उनके गले से लिपट गई, जिस तरह सूरजपाल मेरे गले से लिपट जाय करता है। मैंने पूछा—"तुम बताओ, तुम क्यों रो रहे हो? मेरा कलेजा फट जायगा।"

उन्होंने उत्तर देने की चेष्टा की मगर उनके हर एक शब्द को उनकी लगातार सिसकियों ने निगल लिया, वे रो रहे थे। जब दुःख का बोझ हलका हुआ और उनकी जिह्वा को बोलने की शक्ति प्राप्त हुई तब उन्होंने मेरा हाथ अपने मुह पर रख लिया। और रुक-रुककर कहा—"अगर तुम देख सकती तो तुम्हें ऐसा दृश्य दिखाई देता कि तुम मूर्छित हो जातीं।"

मैं कुछ समझ न सकी, मस्तिष्क पर जोर देते हुए बोली—"तुम्हारा क्या मतलब है। साफ-साफ कहो। मैं कुछ नहीं समझती।"

"मेरी और तुम्हारे सूरजपाल की सूरत ऐसी बदल गई है कि देखकर डर आता है।"

यह कहकर वे चुप हो गये।

मैं बैठी थी, खड़ी हो गई, और चिल्लाकर बोली—"परन्तु मेरी आँखों में जो तुम्हारी सूरतें समा चुकीं हैं, उन्हें कौन बदल सकता है। ससार की आँखो में तुम बदल जाओ, पर मेरी आँखो में तुम सदा वैसे मनोहर हो। मैं सोचती थी, परमात्मा ने दूसरी बार मेरी आँखें छीनकर मुझपर अन्याय किया है। परन्तु आज मालूम हुआ कि इस अन्याय के परदे में उसकी अपार दया छिपी थी। तुम्हारी सुन्दरता मेरे दिल में सदा जीती रहेगी। उसके लिए मौत नहीं है।"

यह कहकर मैंने उनके गले में भुजाएँ डाल दीं और उनके बालो में धीरे-धीरे अपनी उँगलियाँ फेरने लगी।

इस समय मेरी अँधेरी दुनिया में ऐसा प्रकाश था, जो बयान नहीं किया जा सकता।

हार की जीत

(१)

मा को अपने बेटे, साहूकार को अपने देनदार और किसान को अपने लहलहाते खेत देखकर जो आनन्द मिलता है, वही आनन्द बाबा भारती को अपना घोडा देखकर मिलता था। भगवद्भजन से जो समय बचता, वह घोड़े के अर्पण हो जाता था। यह घोड़ा बड़ा सुन्दर था, बड़ा बलवान्। इसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाके में न था। बाबा भारती उसे सुलतान कहकर पुकारते थे। अपने हाथ से खरहरा करते, खुद दाना खिलाते, और देख-देखकर प्रसन्न होते थे। ऐसी लगन, ऐसे आदर, ऐसे स्नेह से कोई सच्चा प्रेमी अपने साजन को भी न चाहता होगा। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया था— रुपया, माल, असबाब, जमीन; यहाँ तक कि उन्हें नागरिक जीवन से भी घृणा थी। अब एक गांव से बाहर छोटे-से मन्दिर में रहते थे और भगवान् का भजन करते थे। परन्तु सुलतान से बिछुड़ने की वेदना उनके लिए असह्य थी। मैं इसके बिना नहीं रह सकूँगा, उन्हें ऐसी भ्रांति सी हो गई थी। वह उसकी चाल पर लट्टू थे। कहते, ऐसे चलता है, जैसे मोर घन-घटा को देखकर नाच रहा हो। गाँवों के लोग इस मोह-माया को देखकर हैरान परेशान रह जाते थे, कभी-कभी कनखियो से इशारे भी करते थे, परन्तु बाबा भारती को इसकी परवा न थी। जब तक सध्या-समय सुलतान पर चढ़कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते, उन्हें चैन न आती, खाना हजम न होता, रात को नींद न आती।

खड्गसिंह उस इलाके का प्रसिद्ध डाकू था। लोग उसका नाम सुन-कर काँपते थे। होते-होते सुलतान की कीर्ति उसके कानो तक भी पहुँची। उसका हृदय उसे देखने के लिए अधीर हो उठा। वह एक दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुँचा, और नमस्कार करके बैठ गया।

बाबा भारती ने पूछा—"क्या हाल है?"

खड्गसिंह ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"आपकी दया से अच्छा हूँ।"

'कहो, इधर कैसे आ गये?"

"सुलतान की चाह खींच लाई।"

"अजीब जानवर है। देखोगे, तो खुश हो जाओगे।"

"मैंने भी बड़ी तारीफ सुनी है।"

"उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी।"

"कहते हैं, देखने में भी बड़ा सुन्दर है।"

"क्या कहना। जो उसे एक बार देख लेता है, उसके हृदय पर उसकी छवि अंकित हो जाती है।"

"बहुत दिनों से अभिलाषा थी, आज हाजिर हो गया हूँ। जरा दिखाइए ना! हम भी देखें कैसी चीज है, जिसकी लोग इतनी तारीफ करते हैं।"

बाबा और खड्गसिंह, दोनों अस्तबल में पहुँचे। बाबा ने घोड़ा दिखाया—घमंड से। खड्गसिंह ने घोड़ा देखा—आश्चर्य से। उसने हजारों घोड़े देखे थे; परन्तु ऐसा बाँका घोड़ा उसकी आँखो से कभी न गुजरा था। सोचने लगा, भाग्य की बात है। ऐसा घोडा खड्गसिंह के पास होना चाहिए था। इस साधु को ऐसी चीजों से क्या मतलब? कुछ देर तक आश्चर्य से चुपचाप खड़ा रहा। इसके बाद हृदय में हलचल होने लगी, बालको की-सी अधीरता से बोला—"मगर बाबाजी, इसकी चाल न देखी, तो क्या देखा? जरा चाल भी दिखा दीजिए।

(२)

बाबाजी भी आदमी ही थे। अपनी चीज की तारीफ दूसरे के मुख से सुनने के लिए उनका हृदय भी अधीर हो गया। घोड़े को खोलकर बाहर लाये, और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे। एकाएक उचककर सवार हो गये, घोड़ा हवा से बातें करने लगा। उसकी चाल देख कर, उसकी गति देखकर खड्गसिंह के हृदय पर साँप लोट गया। वह

डाकू था, और जो वस्तु पसन्द आ जाय, उसपर अपना अधिकार समझता था। उसके पास बाहु-बल था, और रुपया था, और आदमी थे और बेरहमी थी। जाते-जाते बोला—"बाबाजी! मैं यह घोड़ा आपके पास न रहने दूंगा।"

बाबा भारती डर गये। अब उन्हें रात को नींद न आती थी। सारी रात अस्तबल की रखवाली में कटने लगी। हर समय जालिम, बेरहम, डाकू खड्गसिंह का भय लगा रहता। मगर कई महीने बीते गये, और वह न आया। यहाँ तक कि बाबा भारती कुछ लापरवा हो गये, और इस भय को स्वप्न के भय की नाईं मिथ्या समझने लगे।

संध्या का समय था। बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार होकर घूमने जा रहे थे। इस समय उनकी आँखों में चमक थी, मुख पर प्रसन्नता। कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी रंग को और मन में फूले न समाते थे कि उन्हें ऐसा अजीब घोड़ा मिला।

सहसा एक ओर से आवाज़ आई—"ओ बाबा! इस कँगले की भी बात सुनते जाना।"

आवाज़ में करुणा थी, बाबाजी ने घोड़े को थाम लिया। देखा, एक अपाहिज वृक्ष की छाया में पड़ा कराह रहा है। बोले—"क्यों, तुम्हें क्या तकलीफ है भाई?"

अपाहिज ने हाथ जोड़कर कहा—"बाबा, मैं दुखिया हूँ। मुझपर दया करो। रामाँवाला यहाँ से तीन मील है; मुझे वहाँ जाना है। घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा तुम्हारा भला करेगा।"

"वहाँ तुम्हारा कौन है?"

"दुर्गादत्त वैद्य का नाम आपने सुना होगा। मैं उनका सौतेला भाई हूँ।"

बाबा भारती ने घोड़े से उतरकर अपाहिज को घोड़े पर सवार किया और स्वयं उसकी लगाम पकड़कर धीरे-धीरे चलने लगे।

सहसा उन्हें एक झटका-सा लगा, और लगाम हाथ से छूट गया। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि अपाहिज घोड़े

की पीठ पर तनकर बैठा है, और घोड़े को दौड़ाये लिये जा रहा है। उनके मुख से भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख निकल गई-- यह अपाहिज खड्गसिंह डाकू था। आज उसने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा किया और घोड़ा ले गया।

बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे, और इसके बाद कुछ निश्चय करके पूरे बल से चिल्लाकर बोले--"जरा ठहर जाओ।"

खड्गसिंह ने यह आवाज सुनकर घोड़ा रोक लिया, और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरते हुए कहा,--"बाबाजी, यह घोडा अब न दूंगा। और जो चाहिए, माँग लीजिए।"

"परन्तु एक बात सुनते जाओ।"

खड्गसिंह ठहर गया। बाबा भारती ने पास जाकर उसकी तरफ ऐसी आँखो से देखा, जैसे बकरा कसाई की तरफ देखता है, और कहा--"यह घोड़ा तुम्हारा हो चुका। मैं तुमसे इसे वापस करने के लिए न कहूँगा। मगर खड्गसिंह! केवल एक प्रार्थना करता हूँ, उसे अस्वीकार न करना; नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा।"

"बाबाजी, आज्ञा कीजिए। मैं आपका दास हूँ। केवल यह घोडा न दूंगा।"

"अब घोड़े का नाम न लो, मैं तुमसे इसके विषय में कुछ न कहूँगा। मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना।"

खड्गसिंह का मुंह आश्चर्य से खुला रह गया। उसका विचार था कि मुझे इस घोडे को लेकर यहाँ से भागना पड़ेगा, मगर बाबा भारती ने खुद उससे कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना। इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? खड्गसिंह ने बहुत सिर मारा; मगर कुछ समझ न सका। हारकर उसने अपनी आँखें बाबा भारती के मुँह पर गडा दी, और पूछा--"बाबाजी, इसमें आपको क्या डर है?"

बाबा भारती ने जवाब दिया--"लोगों को अगर इस घटना का पता लग गया; तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे। दुनिया से विश्वास उठ जायेगा।"

और यह कहते-कहते उन्होने सुलतान की तरफ़ से इस तरह मुंह मोड़ लिया, जैसे उनका उससे कभी कोई संबन्ध ही न था। बाबा भारती चले गये; परन्तु उनके शब्द खड्गसिंह के कानों में उसी तरह गूंज रहे थे। सोचता था कैसे उच्च विचार है? कैसा पवित्र भाव है? उन्हें इस घोड़े से प्रेम था। इसे देखकर उनका मुंह फूल की नाईं खिल जाता था। कहते थे, इसके बिना मैं रह न सकूंगा। इसकी रखवाली में वह कई रातें सोये नहीं। भजन-भक्ति के बदले रखवाली करते रहे! मगर आज उनके मुंह पर चिन्ता की रेखा तक न दिखाई देती थी। उन्हें सिर्फ यह ख़याल था कि कहीं लोग गरीबों पर विश्वास करना न छोड दें। उन्होंने अपनी निज की हानि को मनुष्यत्व की हानि पर न्योछावर कर दिया। ऐसा मनुष्य-मनुष्य नहीं देवता है। बल्कि देवताओ से भी बढ़कर। स्वार्थ से देवता भी खाली नहीं।

(३)

रात के अँधेरे में खड्गसिंह बाबा भारती के मन्दिर में पहुँचा। चारों तरफ सन्नाटा था। आकाश पर तारे टिमटिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गाँवों के कुत्ते भौंकते थे। मन्दिर के अन्दर कोई शब्द सुनाई न देता था। खड्गसिंह सुलतान की बाग पकड़े हुए था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुँचा। फाटक किसी वियोगी की आँखों की तरह चौपट खुला था। किसी समय वहाँ बाबा भारती स्वय लाठी लेकर पहरा देते थे; परन्तु आज उन्हें किसी चोरी, किसी डाके का भय न था। हानि ने उन्हें हानि की ओर से बेपरवा कर दिया था। खड्गसिंह ने आगे बढकर सुलतान को उसके स्थान पर बाँध दिया, और बाहर निकलकर सावधानी से फाटक बन्द किया। इस समय उसकी आँखों में पश्चात्ताप के आँसू लहरा रहे थे।

अन्धकार में रात्रि ने तीसरा पहर समाप्त किया, और चौथा पहर आरम्भ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकलकर ठण्डे पानी से स्नान किया। उसके बाद ऐसे जैसे कोई सुपने में चल रहा हो,

उनके पाँव अस्तबल की ओर मुड़े। परन्तु फाटक पर पहुँच कर उनको अपनी भूल मालूम हुई, साथ ही घोर निराशा ने पाँवों को मन-मन भर का भारी बना दिया। वह वहीं रुक गये, और सोचने लगे, मैं क्या कर रहा हूँ।

घोड़े ने स्वाभाविक मेधा से अपने स्वामी के पाँवो की चाप को पहचान लिया, और जोर से हिनहिनाया।

बाबा भारती दौड़ते हुए अन्दर घुसे, और अपने घोड़े के गले से लिपटकर इस तरह रोने लगे, जैसे बिछुडा हुआ पिता चिरकाल के बाद पुत्र से मिलकर रोता है। बार-बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते थे, बार-बार उसके मुँह पर थपकियाँ देते थे, और कहते थे—अब कोई गरीबों की सहायता से मुँह न मोड़ेगा। अब दुनिया दुखियो पर अविश्वास न करेगी।

थोड़ी देर के बाद जब वह अस्तबल से बाहर निकले, तो उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। ये आँसू उसी भूमि पर, ठीक उसी जगह गिर रहे थे, जहाँ बाहर निकलने के बाद खड्गसिंह खड़ा होकर रोया था।

दोनों के आँसुओ का उस भूमि की मिट्टी पर परस्पर मेल हो गया।

बलिदान

(१)

बड़ा बाजार वजीराबाद

प्यारे अमीरचन्द, ३ नवम्बर, १९१५

तुम्हारा पत्र मिला, पढ़कर चिन्ता हुई। भाई मेरी मानो तो मामला जितनी जल्दी हो सके, तय कर डालो। यह बात अब अधिक समय तक छिपी नहीं रहेगी। "प्रेम छिपाये नहिं छिपे चाहे लाख छिपाय" की कहावत झूठ नही है और मुझे तो डर है कि यदि यह बात बाहर निकल गई, तो तुम्हारी और उस बेचारी लडकी दोनों की बदनामी होगी। पहले तुम दोनो छोटे थे। उस समय किसी ने ध्यान नही दिया। मग रअब वह समय चला गया। इस समय तुम्हारी अपनी ही आँखें यह भेद खोल देने के लिए काफी हैं। इसलिए सीधा रास्ता तो यही है कि तुम स्वयं जाकर सन्तराम से मिलो और उसके सामने सारी-की-सारी बात ठीक-ठीक कह दो। वह बुद्धिमान आदमी है, नहीं न करेगा। परन्तु इतना याद रखो कि उससे कोई बात छिपाने की जरूरत नहीं। देवकी के सम्बन्ध में उसे साफ-साफ पता हो जाना चाहिए कि वह तुमसे अगाध प्रेम रखती है और उसने दृढ़ सङ्कल्प कर रखा है कि अगर व्याह तुमसे न हुआ तो वह आत्म-हत्या कर लेगी। मेरे विचार में उसे इस व्याह पर कोई आपत्ति नहीं होगी। केवल एक बात है, जिसकी मुझे कुछ चिन्ता है और वह यह कि सन्तराम अब कुछ पैसेवाला हो गया है, परन्तु इतना नही कि तुम्हें तुच्छ समझे और तुम्हें घृणा से देखे। इसके अतिरिक्त तुम्हारे पिता के उपकार ऐसे नही कि वह सिर उठा सके। अस्तु, कुछ भी हो, मेरी सम्मत्ति यही है कि उससे मिलो और उससे खुली-खुली बातें करो। तुम्हारी भाभी को अब आराम है। तुम्हारा व्याह देखने

की उसे लालसा है। आशा है, अगले महीने मेरी बदली गुजरात को हो जायगी।

उत्तर शीघ्र देना।

तुम्हारा शुभचिन्तक
वजीरचन्द

(२)

पेशावर-छावनी
२० नवम्बर, १९१५

मेरी प्यारी देवकी,

मैं आज यहाँ हूँ और दो चार दिन में यहाँ से भी चला जाऊँगा। कहाँ जाऊँगा? क्या करूँगा? कैसे रहूँगा? इसका अभी कुछ ठिकाना नहीं। परन्तु इतना कह देना जरूरी है कि जहाँ रहूँगा और जिस हाल में रहूँगा, तुम्हारी माधुरी मूर्ति हृदय पर बराबर अङ्कित रहेगी और घोर अन्धकार के क्षणों में भी तुम्हारा चिन्तन चमकते हुए तारे की तरह मुझे रास्ता दिखलाता रहेगा। सोचता हूँ, वह दिन कब आयेगा जब मैं तुम्हें "अपनी देवकी" कह सकूँगा और संसार के किसी भी व्यक्ति को इस पर एतराज करने का अधिकार न होगा।

तुम्हारे पिता से मुझे इस उत्तर की कभी भी आशा न थी। कैसे मिलनसार आदमी हैं, किसी ने उनके मुख पर कभी क्रोध की रेखा नहीं देखी। परन्तु उस समय वे बहुत जोश में थे। ऐसा मालूम होता था, जैसे बर्फ को गरमी आ गई हो। कहने लगे तुम क्या अपने आपको देवकी के योग्य समझते हो? देवकी! तुमसे क्या कहूँ, ये शब्द सुनकर मैं पानी-पानी हो गया। मुझे ऐसे अपमान की आशा न थी। मैं समझता था, उनसे कह देना ही काफी होगा। परन्तु उनका मुख तपे हुए ताँबे की तरह लाल हो गया। मैंने साहस करके उत्तर दिया, मैं पूरा यत्न करूँगा। और मुझे पूर्ण आशा है कि मैं उसे सब प्रकार का सुख पहुँचा सकूँगा। यह सुनकर उन्होंने मुँह फेर लिया और कहा मैं झूठी आशा के भरोसे

अपनी बेटी का जीवन नष्ट नहीं कर सकता। मेरा मुँह बन्द हो गया। निरुत्तर होकर मैंने सिर झुका लिया। उस समय मुझे चारों ओर निराशा दिखाई देती थी। एकाएक अन्धकार में बिजली चमक गई। मैंने फिर सिर ऊपर उठाया और कहा, "मगर आप उसका भी कुछ विचार करेंगे या नहीं।"

निराशा आशा का रूप देख रही थी।

उन्होंने पूछा, "उसका विचार? किसका?"

मैंने बड़ी कठिनाई से उत्तर दिया, "देवकी का।"

आग पर तेल पड गया। उन्होंने इस तरह सिर उठाया जैसे किसी ने सोती कलह जगा दी हो। उस समय उनका मुख तपा हुआ ताँबा था, आँखें लाल अँगारे। गर्जकर बोले—"मैं उससे भी समझ लूँगा। तुमसे भी समझ लूँगा।"

देवकी, वह मेरे पास ताश का अन्तिम पत्ता था। इस पर मुझे बहुत आशा थी। परन्तु तुम्हारे पिता के उत्तर ने पत्थर मार दिया। आशा कुचले हुए साँप के समान बैठ गई। मैंने हारे हुए जुआरी की तरह ढीठ होकर कहा—"तो मेरे लिए कोई आशा नहीं?"

इस समय मेरी आवाज में निराशा भरी हुई थी।

उनका क्रोध जाता रहा, कुछ शान्ति से मुस्कराकर बोले—"यदि तुम आप कुछ करके दिखाओ, तो सब कुछ हो सकता है।"

आशा फिर सामने खड़ी थी। मैंने साहस करके पूछा—"क्या करके दिखाना होगा मुझे?"

"कुछ कमा के दिखाओ। मैं अपनी बेटी तुम्हें कैसे ब्याह दूँ, जब जब तक मुझे विश्वास न हो जाय कि तुम अपने बाहु-बल से अपना और उसका निर्वाह कर सकोगे। तुमने एफ० ए० तक शिक्षा पाई है, इससे होता क्या है? आज कल के दिनों में बी० ए० और एम० ए० ठोकरें खाते फिरते हैं। तुम्हें कौन पूछेगा?"

डूबते को तिनके का सहारा मिल गया। मैंने पूछा, "मुझे कितने दिन की मोहलत आप देते हैं।"

"दो साल की।"

मैं जोश से तीर की भाँति तनकर खड़ा हो गया और यह कहता हुआ बाहर निकल आया—दो साल के बाद आप मुझे इस दशा में न देखेंगे।"

देवकी, अब मैं यह दो साल समुचित रूप से व्यतीत करूँगा और एक-एक क्षण को रुपया पैसे में बदलने का यत्न करूँगा। मुझे सफलता होती है या नही यह भगवान् जाने। परन्तु तुमसे इतना कहना आवश्यक है कि जब कभी निश्चिन्त होकर अपने कमरे में बैठो उस समय उस अभागे का भी खयाल कर लिया करो जो तुम्हारे प्रेम की प्राप्ति के लिए देश से परदेश जाकर मजदूरो की तरह परिश्रम कर रहा है। और जिसके सामने सदा तुम्हारा चेहरा रहता है।

देवकी, मेरी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। परमात्मा से प्रार्थना करो कि मुझे अपने उद्देश्य में सफलता हो और मैं तुम्हें "अपनी देवकी" और तुम मुझे "अपना अमीर" समझ सको।

मुझे पत्र लिखने की भी जरूरत नहीं। मैं कब कहा हूँगा, इसके सम्बन्ध में मैं तुम्हें क्या बताऊँ। मैं खुद इस समय तक कुछ नहीं जानता, जब फैसला, होगा देखा जायगा।

तुम्हारा प्यारा
अमीरचन्द

(३)

मुहल्ला पुरियाँ,
बटाला
१३ जनवरी, १९१६

चिरंजीव सन्तराम,

यहाँ कुशल है। आपकी कुशल श्रीनारायणजी से चाहता हूँ। पत्र आपका मिला, हाल मालूम हुआ। रायसाहब साँझीराम बहुत जोर दे रहे हैं ब्याह जल्दी से जल्दी हो जाना चाहिए। वे कहते हैं कि इस एप्रिल में यदि ब्याह न हो गया तो उन्हें बहुत कष्ट होगा। आपको

भी सोचना चाहिए कि उनके छोटे-छोटे लड़के हैं, स्त्री के बिना एक-एक दिन बीतना कठिन है। और यह भी सोचना चाहिए कि शादी ब्याहो में लोग झूठी बातें बहुत उड़ा दिया करते हैं। इसलिए यह काम जितनी जल्दी हो जाय उतना ही अच्छा है। रायसाहब की बहन ने देवकी की बहुत बड़ाई की है और यह घर भी बहुत ऊँचा है। लडकी सारी उमर राज करती रहेगी। सगाई हो जाने में क्या हर्ज है? ब्याह बाद में हो जायेगा।

उत्तर वापसी डाक से ही देना। चिट्ठी को तार समझना। बस!

परमेश्वरीदास

(४)

मुहल्ला किला, गुजरात
२० जनवरी, १९१६

प्यारे अमीरचन्द,

कई दिन बीत गये, तुम्हारा कोई पत्र नही मिला। चिन्ता हो रही है। भाई जरा जल्दी-जल्दी अपनी कुशल क्षेम लिखते रहा करो। इतनी दूर बैठे हो, चार दिन पत्र न आये तो प्राण निकल जाते हैं। तुम जैसे आदमी को, जो इतना परिश्रम कर सकता हो, आलस्य करना उचित नहीं। तुम पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक चुप साधे रहते हो हमें चिन्ता लग जाती है। तुम्हारी भाभी भी तुम्हारे लिए बहुत चिन्ता करती है।

देवकी हर समय तुम्हारे ही ध्यान में मग्न रहती है। हमारे यहाँ प्रायः आती जाती रहती है। उसका शरीर सूखकर कांटा हो गया है आँखो में वह कान्ति नहीं रही। प्रायः रोती रहती है। ऐसा जान पड़ता है जैसे वर्षों से बीमार है। परन्तु तुम्हारी भाभी कहती है कि तुम्हारा नाम सुनकर उसका मुंह गुलाब कि नाईं खिल जाता है। यार! बड़े भागवान् हो। आज-कल के समय में ऐसी स्त्री मिलनी सहज नहीं। वह तुम्हारी पूजा करती है। बातो बातो में जब तुम्हारा नाम आ जाता है, तो ऐसा प्रतीत ोता है, मानों उसके मृत-शरीर में प्राण आ गये हैं। वह दिन-रात तुम्हारी सफलता और आरोग्यता के लिए प्रार्थनाएँ करती रहती

है। परमात्मा वह दिन शीघ्र लाये जब तुम दोनों की मनोकामना सिद्ध हो और यह जुदाई की दीवार दूर हटे।

तुम्हारे काम का क्या हाल है। लाला हरनामदास का नाम मैंने प्रायः सुना है। कहते हैं, बहुत ही भलेमानस है। उसने लकड़ियों के काम में लाखों रुपये कमाये हैं। मित्र, जैसे भी हो सके, यत्न करके उसे अपनी मुट्ठी में कर लो। फिर सफलता निश्चित है। परन्तु मुझे डर है कि कहीं जोश में न आ जाओ और उससे बिगाड़ लो। तुम्हारा स्वभाव बहुत गरम है। तुम्हारी भाभी की ओर से आशीर्वाद, और देवकी की ओर से—बताओ, मैं क्या लिखना चाहता था, जो नहीं लिखा!

तुम्हारा शुभचिन्तक
वजीरचन्द

(५)

मुहल्ला किला, गुजरात
२४ जनवरी, १९१६

पूजनीय लाला परमेश्वरीदासजी,

प्रणाम। आपका कृपापत्र पहुँचा; धन्यवाद। मैं स्वयं चाहता हूँ कि यह काम यथासम्भव जल्दी हो जाय। परन्तु कभी कभी ऐसी रुकावटें सामने आ जाती हैं जिनको रास्ते से हटाना असम्भव हो जाता है। मेरी बूआ की लड़की सावित्री का कल देहान्त हो गया है। जालन्धर के कन्या-महाविद्यालय में पढती थी और अत्यन्त सुशीला थी। अब ऐसी अवस्था में यह बहुत ही कठिन है कि ब्याह शीघ्र हो सके। फिर भी मैं कर दूंगा। आप अपने बताये हुए उपाय पर चलें ताकि देवकी उस समय कुछ गड़बड़ न कर दे। वर्ना बडी बदनामी होगी। कहीं मुँह दिखाने के योग्य न रहेंगे।

शेष रही सगाई की बात। मेरे विचार में इसकी आवश्यकता ही नही। सगाई और ब्याह एक ही साथ हो जायेंगे। और हर तरह से कुशल है।

यदि मेरे योग्य कोई सेवा हो तो लिख भेजें। मै सेवक हूँ।

आपका दास
सन्तराम

(६)

पजाब हौस, बन्नू
१७ एप्रिल, १९१६

माई डीयर वज़ीरचन्द,

सफलता सामने दिखाई दे रही है। देवकी की प्रार्थनाएँ फलती-फूलती देख पड़ती हैं। लाला हरनामदास अब पूरी तरह मेरी मुट्ठी में है। उनको मुझपर पूरा-पूरा विश्वास हो गया है। वे अब कोई ऐसा काम नहीं करते जिसमें मुझसे सम्मति न लेते हो। तुम यह सुनकर प्रसन्न होगे कि अब उन्होंने मेरा मासिक वेतन २०० रुपया कर दिया है और एक आना पत्ती मुनाफा देने की प्रतिज्ञा की है। इस एक आना पत्ती का अर्थ ६००० रुपया वार्षिक के लगभग है।

परन्तु इस आश्चर्यजनक सफलता का कारण क्या है?

पिछले दिनों लालाजी के एक मित्र रायसाहब साँझीराम यहाँ आये हुए थे। ये साहब बटाला जिला गुरुदासपुर के रहनेवाले हैं और बड़े अमीर हैं। उनके साथ उनका भाई भी था। और इस भाई से उन्हें बहुत प्यार था।

साँझ का समय था। रायसाहब और उनका छोटा भाई दोनो सैर के लिए तैयार हुए। लालाजी ने बहुत मना किया। परन्तु रायसाहब ने परवा न की और बाहर चले गये। उनका विचार था कि बहुत दूर नहीं जायेंगे और जल्दी लौट आयेंगे। परन्तु जो भाग्य में लिखा हो उसे कौन मिटा सकता है। रायसाहब अभी शहर की फसील से थोड़ी ही दूर गये थे कि बन्दूक चलने की आवाज आई। रायसाहब और उनके भाई का लोहू सूख गया। इतने में कुछ सरहद्दी सामने आ खड़े हुए। रायसाहब का कलेजा हिल गया। शेर को सामने देखकर जो दशा हिरन

की हो जाती है वही दशा रायसाहव की हुई। माथे से पसीना टपक पड़ा। मृत्यु की भयानक मूर्ति आँखो के सामने फिर गई। उनका सिर नीचे झुक गया; मिन्नतें करने लगे। परन्तु सरहद्दियो का हृदय न पसीजा। एक ने आगे बढ़कर रायसाहब के सिर पर जोर से बन्दूक का दस्ता मारा। रायसाहब बेहोश हो गये। जब उन्हें सुध आई तब वे दीवार के पास पड़े हुए थे। रात आधी के लगभग बीत चुकी थी और उनके भाई का पता नहीं था।

दूसरे दिन बन्नू में हाहाकार मच गया। लोग रायसाहब को देखने आते थे, मानों वे किसी दूसरी सृष्टि के रहनवाले हों। हमारे मकान पर मेला लग गया। परन्तु रायसाहब पागल हो रहे थे। उनकी आँखों में आँसू थे, मुँह पर दुःख और शोक की घटायें। वे रह-रहकर कहते थे–"पता नहीं, भाई का क्या हाल है।' मैं यह देखता था और मन ही मन कुढता था। साँझ हुई तो सदेसा पहुँचा कि तीन दिन के अन्दर-अन्दर पचास हजार रुपया पहुँचा दो, नहीं तो उसका सिर काटकर भेज दिया जायगा। रुपया आ जाएगा, तो आदमी की जान बच जायगी।

रायसाहब धनाढ्य आदमी हैं। उन्होंने फैसला किया कि रुपया भेज दिया जाय। परन्तु मैंने रोक दिया और बन्दूक लेकर निकल खडा हुआ। सारा शहर कहता था, इसकी बुद्धि मारी गई है। स्वयं लालाजी ने भी कहा, तुम्हारी मौत आ गई है। परन्तु मैंने सुना अनसुना कर दिया, और इस तरह जोश में शहर से बाहर निकला, जिस तरह बिफरा हुआ शेर पिंजरे का दरवाजा खुलने से शिकार पर झपटता है। कुछ लोग मेरे साथ आये। उनका हृदय मेरे लिए सहानुभूति से भरा हुआ था। परन्तु बाहर आकर उनके पाँव में जंजीरें पड़ गईं। प्राणों के भय ने सहानुभूति के जोश को दबा लिया। चन्द्रमा की चाँदनी बादलों में आकर क्षीण हो गई है। परन्तु मैं जोश में आया हुआ अन्धाधुंध उस सड़क पर चल रहा था जिसपर यह घटना हुई थी। मुझे मौत की जरा भी परवा न थी।

रात आधी से अधिक बीत गई, चारो ओर निस्तब्धता छा गई। कोई और समय होता तो मेरे लिए एक भी पग चलना कठिन हो जाता। परन्तु इस समय हृदय में जोश था, सीने में गरमी। मेरी चाल में बिजली की तेजी थी। वजीरचन्द, मेरे इस जोश और वीरता की तह में देवकी का विचार लहरें मार रहा था। मैं बार बार सोचता था कि अगर सफलता हुई तो लाला हरनामदास मेरी वीरता पर मुग्ध हो जायेंगे और मेरे प्रेम की सफलता का मार्ग बहुत कुछ साफ हो जायगा। मैं आदमी हूं, देवता नहीं हूँ। मैंने दूसरे के हित के लिए जान जोखो में डाल दी हो, यह झूठ है। मेरा प्रेम मेरा पथप्रदर्शक बन गया था। वजीरचन्द! संसार के बडे से बड़े कार्यों में सौन्दर्य और प्रेम का कितना हाथ है, यह कौन कह सकता है? इतिहास के पन्ने इससे भरे पड़े हैं।

मैं सरहद्दियों के इलाके में पहुँच गया। आशा के साथ निराशा लिपटी हुई थी। सोचता था, यदि पकड़ा गया, तो मुझे बचानेवाला कौन है? रायसाहब तो अमीर आदमी है, इसपर लाला हरनामदास मित्र हैं। उनके भाई के लिए तो थैलियाँ पहुँच जायँगी परन्तु मेरे लिए कोई सौ रुपये देने को भी तैयार न होगा। आशा के पाँव लड़-खड़ा गये। उस दूरी का ध्यान करके जो मेरे और बन्नू के बीच में थी मेरे हृदय पर भय छा गया, जिस प्रकार छोटा बालक शिखर पर से पृथ्वी की ओर देखकर काँप जाता है। परन्तु अब डरना व्यर्थ था। अपने बचाव के लिए मैं साहस से आगे बढा, पीछे देखने का साहस न हुआ। एकाएक एक वजीरी सामने आया। मेरा शरीर कांपने लगा। उसने मुझे सिर से पाँव तक देखकर पूछा—"तू कौन है?"

मैंने अपने गिरते हुए साहस को स्थिर करके उत्तर दिया—"जो आदमी कल पकड़ आया है, मैं उसके सम्बन्ध में बात चीत करने आया हूँ।"

"तो वह सामने का मकान है, चले जाओ।"

वजीरी चला गया। उसके चले जाने पर मेरी देह में जान आ गई। पिछले पहर का समय था। चारो ओर शान्ति थी। पर मेरे

हृदय में हलचल मची हुई थी। मैं कुछ देर ठहर गया। जिस तरह अपराधी अपराध करने से पहले हिचकिचाता है। उसके बाद धीरे-धीरे उस मकान की ओर बढ़ा। उस समय आशा निराशा के समुद्र में डुबकियाँ खा रहा था। एकाएक मेरा हृदय हर्ष से उछलने लगा। डूबती आशा को किनारा मिल गया था। दरवाजा चौपट खुला था और घर के सब लोग मीठी नींद में खर्राटे ले रहे थे। मैं अत्यन्त सावधानी से आगे बढ़ा। सब-के-सब सो रहे थे और एक ओर कोने में रायसाहब का भाई चारपाई से जकड़ा हुआ था।

वजीरचन्द मेरी उस समय की अवस्था पर जरा विचार करो। मैंने होंठो पर उँगली रखकर के रायसाहब के भाई को चुप रहने का इशारा किया और उसके बन्द खोलने लगा। परन्तु आँखें उन सोने-वालों की ओर लगी हुई थीं। उनका जागना मौत का जागना था। उस समय ऐसा मालूम होता था कि समय रुक गया है और मेरे हाथो में शक्ति नहीं रही। ज्यों त्यों करके रायसाहब का भाई छूटा और हम दोनों दबे-पाँव बाहर निकले और लम्बे-लम्बे डग मारते हुए भागे। आगे जिन्दगी थी, पीछे मौत थी, बीच में हम दोनो थे।

इसके पश्चात हम किस तरह दिन को खेतो, उजाड़ो, खण्डहरो और गुफाओं में छिपे रहते थे, किस तरह रात को थोडा चला करते थे, अन्त में किस तरह बन्नू पहुँचे और किस तरह लोगो को मेरी सफलता पर आश्चर्य हुआ, ये सब बातें ऐसी है जिनके लिखने की जरूरत नहीं। जब कभी मिलूँगा तब सब सुनाऊँगा। अन्त में जब हम बन्नू पहुँचे तो शहर में शोर मच गया। लोग मेरी ओर उँगलियाँ उठा-उठाकर देखते थे, मानों मैं उनका इष्टदेव हूँ। मैं यह देखता था और मन ही मन प्रसन्न होता था।

दूसरे दिन लाला हरनामदास ने मुझे अपने पास बुलाया, और कहा, "तुम्हारे साहस से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। इस मास से तुम्हारा वेतन २००) कर दिया गया है और मुनाफे में ~), की पत्ती होगी।"

वजीरचन्द, मेरा मुँह खुशी से लाल हो गया, जैसे गरमी के दिनो में आकाश पर ऊदी घटा छा जाती है। अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो देवकी मेरे बहुत निकट है और मैं उसे थोड़ा-सा हाथ बढ़ाकर पकड़ सकता हूँ। इससे तुम अनुमान कर सकते हो कि आज-कल मैं कैसा प्रसन्न और प्रफुल्लित हूँ। और मेरे मन की क्या हालत है?

यह पत्र देवकी को दिखा देना, देखकर खुश हो जायगी। और उसकी खुशी मेरी खुशी है।

तुम्हारा परदेसी मित्र अमीरचन्द

(७)

पंजाब-हौस, बन्नू
४ मई, १९१६

माई डीयर वजीरचन्द,

तुम्हारा पत्र मिला पढकर हृदय बैठ गया। मुझे यह खयाल भी न था कि ऐसा हो सकेगा। मुझे देवकी से यह आशा न थी। वह मुझे चाहती थी। उसे मुझसे अगाध प्रेम था। बिछुड़ते समय मैंने उसके गालो पर निरन्तर आँसू बहते देखे है। उसकी बातो पर मुझे कभी सन्देह नही हुआ। अन्तिम भेंट में उसने अपने प्रेम को ऐसे जोरदार शब्दो में प्रकट किया था कि मैं अचम्भे में आ गया। उसने कहा था, मैं तुम्हारी हूँ, तुम मेरे हो, और हम दोनो एक दूसरे के विना रह नहीं सकते। परमात्मा ने हमें एक दूसरे के लिए पैदा किया है। जो हमारे रास्ते में खड़ा होगा, पिस जायगा। मैंने पूछा, क्यो देवकी! यदि तुम्हारा पिता तुम्हारा ब्याह किसी दूसरे से कर दे तो क्या करोगी? वजीरचन्द, यह सुनकर देवकी का मुँह लाल हो गया, आंखें तमतमाने लगीं। उसने एक क्षण के लिए सोचा और क्रोध से सिर ऊँचा करके उत्तर दिया यदि ऐसी बात हुई, तो ब्याह के पहले ही हवनकुण्ड में गिरकर जल जाऊँगी। उसके ये शब्द अभी तक कानो में गूँज रहे है। किसे पता था कि वही देवकी एक अमीर आदमी के साथ चुप-चाप ब्याह करा लेगी और उस अभागे

का कोई विचार न करेगी जो केवल उसको और उसके प्रेम को जीतने के लिए अपने आपको मौत के मुँह में ढकेलने के लिए भी तैयार हो गया था।

लाला सन्तराम पर मुझे अत्यन्त शोक है। उन्होने मर्द होकर अपने वचन को पूरा नहीं किया। परन्तु इसपर मुझे आश्चर्य नहीं। मुझे आश्चर्य देवकी पर है, जिसने स्त्री होकर मुझे ऐसा धोखा दिया और सिद्ध कर दिया कि स्त्री पर विश्वास करना संसार की सबसे बड़ी भूल है। परन्तु वजीरचन्द, मुझे अभी तक सन्देह होता है कि यह बात झूठी है। पत्र तुम्हारे नाम से है। तुम्हारे हाथ का लिखा हुआ है—वही अक्षर, वही कागज वही स्याही। आँखें पहचानती है, परन्तु हृदय कहता है कि नहीं, देवकी यह नहीं कर सकती। निःसन्देह वह मुझसे प्रेम करती थी। पर अब यह क्या हो गया? जब से पत्र पढ़ा है, आँखो से बराबर आँसू टपक रहे हैं। मस्तिष्क में आग-सी लग गई है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है, मानों मैं पागल हो जाऊँगा। मानों संसार के बरबाद हो जाने का दिन आ गया है।

तुम्हारा अभागा मित्र
अमीरचन्द

(८)

मोहल्ला किला, गुजरात
७ जून, १९१६

पूजनीय लाला परमेश्वरी दास

प्रणाम! बहुत दिन हुए, आपका कोई पत्र नहीं मिला। क्या कारण है? चिरञ्जीव साँझीराम के सम्बन्ध में भी कोई समाचार नहीं प्राप्त हुआ। कई पत्र लिख चुका हूँ, परन्तु किसी का उत्तर नहीं मिला। कृपा करके आप शीघ्र उत्तर दें कि उनका क्या हाल है? और उन्हें मिलकर कहें कि पत्र लिखने में इतनी सुस्ती न किया करें। मेरा दिल घबरा जाता है, और नींद हराम हो जाती है।

देवकी का क्या हाल है? आशा है, अब उसका स्वभाव पहले-सा नहीं रहा होगा, और बावलापन दूर हो गया होगा। आप मानें चाहें न मानें यह बात अलग है। परन्तु मुझे यह विचार सदा दुःख देता रहेगा कि मैंने अमीरचन्द से धोखा किया है। वह मेरे ही कहने से इतनी दूर घर से बाहर चला गया। देवकी उसे चाहती थी और मेरा मन कहता है कि यदि उसका ब्याह अमीरचन्द से हो जाता तो निस्सन्देह उसका जीवन अधिक सुखमय होता। वह इस ब्याह से जरा भी सहमत नहीं थी। यह तो हमारी चाल चल गई, नहीं तो देवकी तो ब्याह के समय पर कुछ कर गुजरने को तैयार थी। जब उसने बनावटी पत्र देखा तो उसका प्रेम उससे विमुख हो गया। उसे यह आशा न थी कि अमीरचन्द उससे धोखा करेगा। वह एकाएक जोश में आ गई और उसी समय मैंने आगे बढ़कर अपनी पगड़ी उसके पाँव पर रख दी। गरम लोहे पर हथौड़ा काम कर गया। देवकी रायसाहब से ब्याह करने पर सहमत हो गई। परन्तु फिर भी मुझे विश्वास है कि यदि ब्याह उसी रात न हो जाता, तो देवकी फिर अस्वीकार कर देती। उसके प्रतिकार के विचार ने हमारी कठिनाई दूर कर दी, नहीं तो हम कहीं के न रहते। परमात्मा को धन्यवाद है कि देवकी को सन्देह नहीं हुआ। नहीं तो..........

परन्तु यद्यपि अब मुझे इस तरह की बातें सोचना भी नहीं चाहिए, मेरे मस्तिष्क में प्रायः विचार उठता रहता है, कि मैंने पाप किया है और पिता होकर पिता का कर्त्तव्य पालन नहीं किया। सुना है, अमीरचन्द धन-दौलत कमाने के लिए सिर तोड़ प्रयत्न कर रहा है, और उसनें परदेश में बहुत सा रुपया कमाया है। जब यह समाचार सुनता हूँ, तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे किसी ने मुँह पर तमाचा मार दिया है। सोचता हूँ, जब वापस आयेगा तब क्या कहेगा?....और मैं उसके सामने किस तरह सिर उठाऊँगा?

आपका दास

सन्तराम

(९)

वटाला

२० जुलाई, १९१६

माई डीयर लाला हरनामदास,

यह ब्याह करके मैं बहुत दुखी हो गया हूँ। दिन-रात सोचता रहता हूँ कि कैसी ढिठाई कर बैठा? सौन्दर्य देखकर रीझ गया था, अब पछता रहा हूँ। वह सुन्दरी है, यह मैं मानता हूँ। वह नम्र भी है, इसमें सन्देह नहीं। बहुत सुशील भी है, घर का प्रबन्ध उसके पहले की अपेक्षा बहुत अच्छा कर दिया है। अब घर में नौकर लोग लूट नहीं मचा सकते। वह पैसे पैसे का हिसाब रखती है। मेरे साथ उसका बर्ताव बहुत अच्छा है। मुझे देखती है तो आदर से खड़ी हो जाती है। मेरी प्रत्येक इच्छा को अपने लिए आज्ञा मानती है और उसे पूरा करना अपने जीवन का उद्देश्य समझती है। रात को अगर देर से घर आऊँ तो जागती रहती है, और जब तक मैं न आऊँ, चाहे सारी रात क्यो न बीत जाय, कभी सोने का विचार तक नही करती। यह सब कुछ है, परन्तु उसे मुझसे प्रेम नहीं। उसकी आँखें, उसका मुख, उसकी आकृति सब साफ-साफ कहते हैं कि देवकी के शरीर पर मेरा अधिकार है, परन्तु हृदय पर कोई और विचार शासन करता है। उसके समीप जाते हुए मेरा हृदय काँप जाता है। मैं उससे दूर रहना चाहता हूँ, मानों वह सुन्दर नागिन है। उसके पास बैठकर मेरे मन पर बोझ-सा पड़ जाता है और चित्त उदास हो जाता है। मैं ब्याह करके भी कुँवारपन का जीवन बिता रहा हूँ। मेरा आदर करती है और मेरे सुख का पूरा-पूरा ध्यान रखती है। परन्तु ब्याहे हुए मनुष्य के लिए जो वस्तु अमृत के समान है उससे हम दोनो वञ्चित हैं। उसे मुझसे जरा भी प्रेम नही। उसने कभी मुझसे कोई चीज नहीं माँगी। जो कुछ देते हूँ, ले लेती है। जो कुछ खरीद लाता हूँ, उसपर खुश हो जाती है। मैं चाहता हूँ, हाँ मेरे प्यारे मित्र! मैं तुम्हें क्या बताऊँ, कितना चाहता हूँ कि वह मुझसे कुछ माँगे, मुझसे लडे झगडे,

मुझे तङ्ग करे—वह नहीं करती। मैं इन बातों के लिए तरसता हूँ। परमेश्वर ने मुझे सब कुछ दिया है, परन्तु मैं फिर भी अभागा हूँ—मुझे कुछ भी प्राप्त नहीं। मैं वह मछली हूँ, जिसके ऊपर-नीचे आगे-पीछे पानी हो, परन्तु उसे एक बूँद पीने की भी आज्ञा न हो। हा! कैसा भयानक दुर्भाग्य है। एक दिन मैंने उसे प्यार से पकड़ लिया और कहा—"देवकी! तुम्हें क्या दुःख है? मुझसे कहो मैं उसे जिस तरह भी होगा, दूर करने का यत्न करूँगा। सिर्फ एक बार कह दो।"

देवकी ने अपनी सुन्दर आँखो से मेरी ओर देखा और कुछ देर तक चुप रही। इसके बाद सहम गई, मानो कबूतरी बिल्ली के मुँह में फँस गई हो। उसकी आँखों में आँसू आ गये और उसने सहसा अपने आपको मेरे हाथों से छुडा लिया। मुझपर घड़ों पानी पड़ गया। देवकी ने धीरे से उत्तर दिया—"मुझे कोई दुःख नहीं।" परन्तु उसका इस तरह बोलना कह रहा था कि यह झूठ है। मुझे विचार आया, क्या मुझ-सा अभागा पुरुष भी संसार में होगा, जिसकी स्त्री भी उसके सामने अपना दिल नहीं खोलती। प्यारे मित्र! यह कैसा दु:ख है, यह कैसी विपत्ति है, यह कैसा नरक-कुण्ड है? अच्छा होता, यदि मैं ब्याह न करता। परन्तु अब क्या हो सकता है? जो होना था, हो चुका।

मेरे लिए परमेश्वर से प्रार्थना करो कि मेरे जीवन की अँधेरी रात में भी उजाला हो।

तुम्हारा अभागा मित्र
साँझीराम

(१०)

माधोबाग, बम्बई
४ दिसम्बर, १९१६

माई डीयर वजीरचन्द,

लगातार चार मास से घूम रहा हूँ। हरद्वार हृषिकेश, मथुरा, वृन्दावन, बनारस, जगन्नाथ सब स्थानो में हो आया हूँ, मगर हृदय

को शान्ति नहीं मिली। चित्त वैसे का वैसा ही व्याकुल है। आँखें हर समय आँसुओं से भरी रहती है। मेरे लेक्चरों की भारतवर्ष में धूम मच गई है। जहाँ जाता हूँ, पबलिक राह में आंखें बिछा देती है। समाचार पत्र मेरी प्रशसा से भरे रहते है। अभी एक सप्ताह के लगभग हुआ, लाहौर के दैनिक पत्र ट्रीब्यून ने मेरे सम्बन्ध में एक लीडिङ्ग आर्टिकेल लिखा है। उसे पढ़कर तुम आनन्द से उछल पड़ोगे। परन्तु मुझे यह बातें भी प्रसन्न नहीं कर सकती जैसे बुझे हुए दीपक को तेल भी नहीं जला सकता। मरे हुए आदमी को आग भी गरम नहीं कर सकती?

२७ नवम्बर को मैं बटाले गया। हृदय में एक लालसा चुटकियाँ ले रही थी, शायद कही उसे देख सकूँ। वजीरचन्द मुझे दोष न दो। यह मेरा कसूर नहीं है। मुझे अभी तक उसका ध्यान है: उसका ब्याह हो चुका है। वह पराई सम्पत्ति बन चुकी है। सोसायटी और उसके नियमों की दृष्टि में मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु प्रेम के नाते से वह अब भी मेरी है। मैंने सोचा यदि उसे दूर से देख सकूँ तो क्या हर्ज है। मैं बटाले पहुँचा। स्टेशन पर लोगों की भीड़ थी। लोग मुझपर इस तरह टूटते थे, जैसे बच्चे मिठाई पर। मैंने प्रोफेसर राममूर्ति के जुलूस देखे हैं। मैंने पण्डित मालवीय के प्रोसेशन देखे हैं, परन्तु जो धूम धाम मेरे स्वागत में थी, वैसी मैंने कभी नहीं देखी। प्लेटफार्म पर सिर ही सिर दिखाई देते थे। गाड़ी के स्टेशन पर पहुँचते ही लोगों ने जोर से जय-जयकार किया "स्वामी सन्तोषानन्द की जय।" मेरा हृदय एक क्षण के लिए प्रसन्न हो गया। परन्तु एकाएक देवकी के विचार ने मुझे शोकातुर कर दिया। एक क्षण पहले की प्रसन्नता कहाँ गई, यह पता न लगा। जिस प्रकार चन्द्रमा पर घटा आ जाने पर उसकी किरणें दिखाई देना बन्द हो जाती हैं, यही हाल मेरा हुआ।

गाड़ी खड़ी हुई। मैंने कमण्डल और कम्बल सँभाला और नीचे उतरा। हिन्दू-सभा के प्रतिष्ठित सज्जनों ने मेरे पांवो पर सिर रख दिया। मैंने सबको आशीर्वाद दिया और बाहर निकला। जो लोग प्लेट-

फार्म पर नहीं जा सकते थे वे बाहर खड़े थे। मुझे देखते ही उन्होंने भी जय-जयकार किया "स्वामी सन्तोषानन्द की जय।"

एकाएक मेरी दृष्टि रायसाहब साँझीराम पर पड़ी। मैं सन्नाटे में आ गया। वे बड़ी श्रद्धा से आगे बढ़े और मेरे पैरों से लिपट गये। कृतज्ञता के भाव ने श्रद्धा का रूप धारण कर लिया था। वजीरचन्द! मैं साधु हूँ। मेरे हृदय और वाणी में अन्तर नहीं होना चाहिए। उस समय मेरा रक्त गरम तेल की तरह खौल रहा था। मेरा हृदय उससे घृणा करता था। कभी मैंने उसके भाई को मृत्यु के मुख से खींचकर निकाला था। परन्तु अब अवसर मिलता तो स्वयं रायसाहब को गोली मार देता। फिर भी मैंने मुस्कराकर कहा—"अहा! रायसाहब हैं, कहिए कुशल तो है। मजे में तो हैं आप?

रायसाहब ने सिर झुकाकर उत्तर दिया, "आपकी दया-दृष्टि से। परन्तु मेरी एक प्रार्थना है। स्वीकार कीजिएगा?"

मैंने कुछ विस्मित सा होकर पूछा—"कहिए क्या आज्ञा है रायसाहब।

इस समय मेरे हृदय में विचारों की भरमार हो रही थी। सोचता था, क्या राय साहब मुझे अपने यहाँ ठहरने के लिए न कहेंगे। परन्तु साथ ही यह भी विचार आता था कि मैं हिन्दू-सभा का अतिथि हूँ। पता नहीं उन्होंने प्रबन्ध किया है? निराशा आशा के साथ खड़ी थी।

रायसाहब ने नम्रता से कहा—"मेरी प्रार्थना है, आप मेरे यहाँ ठहरिए।"

आशा विश्वास बन गई, मेरा हृदय आनन्द में हिलोरें लेने लगा। मैंने मुस्कराकर उत्तर दिया—"साधु जहाँ ठहरेगा कुछ कष्ट ही देगा।"

"मुझे इस कष्ट की बड़ी अभिलाषा है। तो आपने स्वीकार कर लिया?"

"बहुत अच्छा।"

मैं मोटर पर सवार हुआ। लड़के भजन गा रहे थे। आगे बैंड वाजा बज रहा था। लोग मुझपर फूल वर्षा कर रहे थे। मेरा प्रोसेशन निकला। बाजारों में पुरुष थे, छतो पर स्त्रियाँ थीं। ऐसा प्रतीत होता था, मानों मैं कोई महाराज हूँ, और लोग मेरी प्रजा है। कोई और समय होता तो मैं हर्ष से फूला न समाता। मगर इस समय मुझे रत्ती भर खुशी न थी। प्रेम की असफलता का विचार मुझे उदास कर रहा था। मोटर के साथ यह जुलूस मेरे लिए मृतक की अर्थी था। जुलूस समाप्त हुआ और मोटर रायसाहब की कोठी पर रुका। मेरे प्राण होठो तक आ गये। देखें अब क्या होता है? कैसे पटती है। मेरी आँखें किसी की खोज करने लगीं, परन्तु वह न दिखाई दी। मुझे एक सजे हुए कमरे में ठहराया गया।

तीसरे पहर का समय था। मैं बैठा हुआ गीता का पाठ कर रहा था। इतने में किसी के पाँव की चाप सुनाई दी। मेरे मन में हलचल मच गई। मैं सोचने लगा—क्या यह वही है, जिसकी माधुरी छवि देखने के लिए कई मास से तडप रहा था। क्या मेरी कामना पूरी होने का समय आ गया। चिक उठी मेरा कलेजा धड़कने लगा। एकाएक शीतकाल के दिन में मस्तक पर पसीना आगया।

यह देवकी थी। उसने मुझे देखा, तो ठिठक गई, जैसे रात में चोर देख लिया हो। उसके मुख पर हैरानी दौड़ गई, कान तक लाल हो गये। वह साधु के विचार से आई थी, परन्तु उसे मैं दिखाई दिया। वह बिजली के समान वापस मुड़ी। श्रद्धा घृणा में बदल गई थी। एका-एक मैंने कहा, "देवकी! जरा ठहर जाओ।"

मेरे स्वर में प्रेम और विनय के अंश मिले हुए थे। वे देवकी के पाँवो की जंजीर बन गये। वह जाते जाते रुक गई और सिर झुकाकर खड़ी हो गई। उसकी जिह्वा बन्द थी परन्तु शरीर काँप रहा था जैसे ज्वर का वग हो। मैं उसको देख रहा था और अपने अतीत काल को स्मरण कर रहा था, कि आज देवकी पराई हो गई।

कुछ समय तक देवकी इसी तरह खड़ी रही परन्तु एकाएक चौंक पड़ी मानों मिट्टी की मूर्ति में प्राण आ गये हों। मैंने कहा—"देवकी! मैंने साधु का वेश पहन लिया है, परन्तु मेरा मन अभी तक वैसा ही है। मैं तुमसे एक शिकायत करना चाहता हूँ। क्या तुम्हारे पास सुनने के लिए कान और अवसर है?"

देवकी के मुखमण्डल पर अस्त होते हुए सूर्य की लाली छा गई। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे उसके हृदय में क्रोध की अग्नि धधक रही है। मुँह की लाली इस अग्नि के चिनगार थे। उसने धीरे से कहा—"कहो, क्या कहते हो? मैं सुनूँगी, और जवाब दूँगी।

"मेरा मौन मेरी शिकायत है, तुम जवाब दो।"

देवकी अब और सहन न कर सकी। उसने कड़ककर जवाब दिया, "काहे का जवाब दूँ?"

"अपने इस पाप का।"मेरा इशारा उसके ब्याह की ओर था।

वह बोली—"तुम अपने आपको इस प्रश्न का अधिकारी समझते हो?"

"हाँ पूर्ण रूप से।"

देवकी ने अपनी जेबसे एक पुरानी चिठ्ठी निकालकर मेरे सामने रख दी और कहा—"इसे देखकर भी?"

मैंने आश्चर्य से चिट्ठी पढी। मेरे अचम्भे का ठिकाना न था। वजीरचन्द, यह चिट्ठी बम्बू के किसी टेकचन्द की ओर से गुजरात के किसी जमनादास के नाम थी। मैं इन दोनो को नहीं जानता। परन्तु चिट्ठी मेरे ही विषय में थी। इसमें लिखा था कि गुजरात का एक नवयुवक अमीरचन्द यहाँ आया हुआ है। उसे हमने (टेकचन्द से अभिप्राय है) अपनी लड़की से ब्याह के लिए पसन्द किया है। अमीरचन्द ने पहले पहल तो न माना परन्तु अब रुपया के लोभ से मान गया है। यह चिट्ठी पढ़कर मेरे प्राण निकल गये। मुँह पर पीलापन छा गया। देवकी ने मेरी ओर देखते हुए पूछा—"अब भी क्या अपना वही प्रश्न दोहराते हो?

मैंने अपने गिरते हुए धीरज को जरा सँभालकर जवाब दिया—"हाँ मैं अब भी अपने आपको वही प्रश्न दोहराने का अधिकारी समझता हूँ।

देवकी ने आश्चर्य से कहा "और यह चिट्ठी?"

"मालूम होता है तुम्हारे पिता का धोखा है।"

देवकी खड़ी हो गई। इस समय उसका अङ्ग-अङ्ग काँप रहा था। उसने पूछा—"तो तुम्हारा ब्याह नहीं हुआ, अभी तक?"

"नहीं"

"और अब साधु क्यों हुए हो?"

"और क्या करता?"

देवकी खड़ी थी, यह सुनकर वहीं बैठ गई, और दोनों हाथों से अपना मुँह छिपाकर रोने लगी। अब मुझे और उसको वास्तविक भेद का पता लगा। दोनों के दुःख और शोक की थाह न थी। दोनो को धोखा दिया गया था।'

रात को मेरा लेक्चर हुआ। मैंने कलेजा निकालकर लोगो के सामने रख दिया और ब्याह की बुराइयो पर अपने विचार प्रकट किये। मैं सात मास से लेक्चर दे रहा हूँ। परन्तु उस रात के लेक्चर में जादू था। जनता की आँखों में आँसू भरे हुए थे और स्त्रियाँ तो बिलख बिलखकर रो रही थीं। परन्तु लेक्चर का अधिकतर प्रभाव रायसाहब और देवकी पर हुआ। दोनों के मुख का रङ्ग उड़ा हुआ था। दूसरे दिन पता लगा कि देवकी ने साड़ी पर तेल छिड़क कर कपडों में आग लगा ली है। मुझपर पहाड़ टूट पड़ा। जी चाहता था कि उसके साथ ही जल मरूँ। परन्तु फिर यह विचार रोकता था कि इससे देवकी को कलङ्क लगेगा। लोग तरह-तरह की बातें करेंगे। उसने ब्याह करके भी प्रेम की आन को निभाया; क्या मैं उसकी मृत्यु के बाद उसकी धूल उड़ाऊँगा। यह प्रेम का मार्ग नहीं पाप का पथ है।

वजीरचन्द, अब मेरा संसार उजड़ गया है। पहले सोचता था कि देवकी मेरी नहीं; न सही, जीती तो है। कभी नजर आ जायेगी। पर अब यह बात भी नहीं रही। अब जीकर क्या करूँगा। यह मेरा

अन्तिम पत्र है। कल के समाचार-पत्र में मेरी मौत का समाचार पढो तो आश्चर्य न करना। देवकी मेरी वाट देख रही होगी, मैं उसे अधिक देर तक व्याकुल नहीं रखना चाहता। आखिरी नमस्ते!

तुम्हारा कोई घडी का मेहमान
अमीरचन्द

(११)

माधोबाग़, बम्बई
५ दिसम्बर, १९१६

माई डियर लाला हरनामदास,

मैं आज ही यहाँ पहुँचा हूँ और आते ही यह समाचार सुना है कि स्वामी सन्तोषानन्द भी मर गये हैं। उन्होंने जहर खा लिया है। जब से मैंने उनकी और देवकी की बात-चीत छिपकर सुनी थी तभी से मुझे आश्चर्य हो रहा था कि अब क्या होगा। यह मृत्यु इस नाटक का ड्राप है।

देवकी की आश्चर्यजनक उदासीनता और मौन का रहस्य अब जान पडा है। और मेरी दृष्टि में उसका सम्मान कई गुना अधिक हो गया है। वह अमीरचन्द से प्रेम करती थी। उसका हृदय उसे चाहता था। फिर भी उसने मेरा मन रखने का पूरा प्रयत्न किया और अपने प्रेम को अन्दर ही अन्दर दबा रक्खा। परन्तु जब उसे अपने पिता की धोखबाजी का पता लगा तब उसने आत्महत्या कर ली। इसके सिवाय और उपाय ही क्या था? वह और कर ही क्या सकती थी?

सन्तराम ने बड़ी भूल की। उसे सोचना चाहिए था कि वह क्या कर रहा है? उसे ख्याल करना चाहिए था कि ससार में रुपया ही सब कुछ नहीं। उसका लोभ दो हत्याओं का कारण बना और हमारी जाति इन दो बहुमूल्य रत्नों से वञ्चित हो गई। परमात्मा हमको सुबुद्धि दें।

तुम्हारा अभागा मित्र
सांझीराम

पारिवारिक शिक्षा

(१)

लाला चमनलाल का खर्च आमदनी से अधिक था, इसलिए प्रायः उदास रहा करते थे। उनकी स्त्री की हथेली में छेद था, पानी की भांति खर्च करती थी। लाला चमनलाल बहुत मितव्ययी थे। उनका अपना खर्च बीस रुपये से अधिक न होता था। मगर उनकी स्त्री बड़े घर की बेटी थी, मखमली सलीपर पहनती, रेशमी साड़ी, रुपये का घी दूसरे दिन खर्च कर देती थी। दो तीन भाजियो के बिना रोटी का ग्रास उसके गले से नीचे न उतरता था। और रोटी खाकर जब तक फल न खा लेती तब तक भोजन हजम न होता था। यही नहीं, दस-पन्द्रह रुपये मासिक लैस-फीतों में उड़ जाते थे। दोपहर के समय अड़ोस-पडोस की स्त्रियां उसके पास आ बैठतीं तो उनके लिए मिठाई मँगवाई जाती। लाला चमनलाल यह देखते तो बहुत कुढ़ते। प्रायः स्त्री को समझाया करते—"देखो यह चाल अच्छी नहीं। रुपया-पैसा लहू-पसीना एक करके मिलता है, सोच-समझकर खर्च करो। कन्यायें है, वे नीम के पेड़ की भाँति बढ़ रही है। उनके ब्याह के लिए अभी से बचाना आरम्भ करोगी तो समय पर पूरा पड़ेगा, नहीं तो भाई-चारे में नाक कट जायगी। इस तरह धन को उड़ाना लखपती लोगों को शोभा देता है। इससे उनकी मान-प्रतिष्ठा को चार चाँद लग जाते हैं। परन्तु निर्धनों के लिए ऐसा व्यर्थ खर्च करना हलाहल विष के समान है। उनकी भलाई इसी में है कि फूंक-फूंककर पाँव धरें। सहेलियों से मिलो वर्तो, मनाही नही। उजले वस्त्र पहनो, मनाही नहीं। परन्तु रुपये को रुपया समझकर खर्च करो। दिखावे के लिए सारी आयु का सुख गिरवी न रख दो। वर्ना आज खुश होती हो, कल पछताओगी।"

रामप्यारी यह बातें सुनती तो सिर झुका लेती और सच्चे हृदय से

प्रतिज्ञा करती कि भविष्य में कभी ऐसा न करूँगी। परन्तु उसकी यह टेव प्रकृति का एक अंग बन चुकी थी, मास के अन्त में फिर यही कठिनाई आ पड़ती। रुपया पैसा फिर समाप्त हो जाता, ज़रूरी सामग्री फिर उधार मँगवाई जाती, लाला चमनलाल फिर कुढ़ते, रामप्यारी फिर प्रतिज्ञा करती, परन्तु यह प्रतिज्ञा कभी पूरी न हुई। यहाँ तक कि मितव्ययिता के विचार से लाला चमनलाल ने लाहौर छोड़कर पास के ग्रैाम इच्छेर में रहना आरम्भ किया। इससे मकान के किराये में तो सोलह रुपये मासिक की बचत हो गई, मगर लाला चमनलाल पर मुसीबत टूट पड़ी। अब उन्हें पाँच मील रोज पाँव प्यादा चलना पड़ता था। सुहृद् मित्र कहते—"कैसे सूम हो, एक साईकल क्यो नहीं ख़रीद लेते, रोज़ रोज के झझट से छूट जाओगे।" कोई कहता—"सूद पर रुपया चलाते हो, अपने आराम का क्यों ख्याल नहीं करते।" ये शब्द लाला चमनलाल के हृदय में भाले की तरह चुभ जाते, परन्तु दूध का घूंट करके पी जाते। बेबसी जीभ को पकड़ लेती थी। क्या कहते, क्या न कहते।

(२)

साँझ का समय था, रामप्यारी बेटी के गौन में सिल्मा-सितारा लगा रही थी कि चमनलाल ने दफ्तर से आकर एक गुलाबी लिफाफा उसके आगे रख दिया। रामप्यारी ने चौंककर पूछा,—"क्या है?"

"मिसेज रामरखामल ने तुम्हें दावत दी है।"

"कब?"

"दसहरे के दिन।"

रामप्यारी को भोज-निमन्त्रणों का बहुत चाव था। वह ऐसे अवसर पर हर्ष से उछल पड़ती थी। परन्तु इस समय उसके मुख पर उदासी छा गई। उसने उठकर लिफाफे को लौटा दिया और कहा,—"मै न जाऊँगी।"

रामप्यारी भोज में शामिल होना अस्वीकार कर देगी इस बात का

उन्हें खयाल तक न था और खासकर मिसेज़ रामरखामल के साथ तो उसका पुराना सम्बन्ध था। उन्होंने घबरा कर पूछा,—"क्यों, खैर तो है?"

रामप्यारी ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"वहाँ जितनी स्त्रियाँ आती हैं सबकी सब सज-सजाकर आती हैं। मैं उनमें जाकर नक्कू न बनूँगी। कोई काम का कपड़ा भी तो नहीं है। आदमी जाए, तो तमीज से जाये, वर्ना न जाये।"

"क्यों? तुम्हारे पास फिरोजी रङ्ग की जो साड़ी है, वह तो 'तुम्हें बहुत ही भली लगती है।"

"एक साड़ी है, उसे ही बार बार पहनकर अब जी भी उकता गया है। सब कहेंगी कि इसके पास ले-देके यही एक साड़ी है, दिन-रात उसे ही पहने फिरती है। कई स्त्रियाँ नोक-झोंक भी कर देती हैं। उस समय मन की जो अवस्था होती है उसे मन ही जानता है। दूसरा कोई क्या जाने?"

"तो फिर-क्या विचार है?"

"अच्छा तो यह है कि ना कर दीजिए, मैं न जाऊँगी।"

"नई साड़ी ही न ला दूं?"

"व्यर्थ खर्च करने में क्या धरा है। दूसरो के मुंह से वाह वाह सुनने के लिए अपना घर लुटा देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है। आदमी को सोचना समझना चाहिए।"

सम्भव है, अगर रामप्यारी हठ करती तो इन्हीं शब्दो में चमनलाल उसे उपदेश सुनाने लगते, मगर उसके अपने मुँह से यह शब्द सुनकर उनको तीर-सा लगा। अपनी निर्धनता पर क्रोध आया, प्रारब्ध को सैकड़ो गालियाँ दे डालीं और दुःखी होकर इधर-उधर टहलने लगे। कुछ देर के बाद बोले,—"प्रिये! तुम्हारा वहाँ जाना जरूरी है।"

रामप्यारी ने सुई में तागा डालते डालते कहा,—"मुझसे अपमान न सहा जायगा।

"तुम्हारा अपमान नहीं होगा।"

"वह कैसे?"

"मैं कल नई साड़ी लेता आऊँगा।"

"कितने की आयेगी?"

"पच्चीस रुपये तक काम बन जायगा।"

रामप्यारी ने ठण्डी साँस भरकर कहा—"मेरे पास तो सवा आठ आने के सिवा एक पैसा भी नहीं। यह पच्चीस रुपये कहाँ से आयेंगे।"

चमनलाल ने स्त्री के पास चारपाई पर बैठकर उसकी कमर में हाथ डाला और हँसकर कहा,—"कोई परवा नहीं। मेरा बटुआ भरा हुआ है। पच्चीस रुपये निकल आयेंगे।"

"झूठ।"

"नहीं सच।"

"दिखाओ तो......।"

यह कहते हुए रामप्यारी ने पति की जेब से बटुआ खींच लिया। और उसे खोलकर देखा, तो आश्चर्य से उछल पड़ी। उसमें दो गिन्नियाँ थीं। जैसे अबोध बालक नये खिलौने को देखकर प्रसन्न हो जाता है, वैसे ही गिन्नियों को देखकर रामप्यारी को हर्ष हुआ। मुख पर प्रसन्नता लहराने लगी। हँसकर बोली, "ये कहाँ मिलीं?"

चमनलाल कुछ देर चुप रहे। जब वे दफ्तर को जाने लगते थे, तो रामप्यारी उनकी जेब में दोपहर को कुछ खाने-पीने के लिए चार आने पैसे डाल दिया करती थी। वे उन्हें बचा-बचा कर रखते रहे। ये दो गिन्नियाँ उनकी चार मास की मितव्ययिता का फल थीं। उन्होंने मन ही मन में सोचा, ठीक बात बतानी चाहिए या नहीं। आखिर में यही निश्चय किया कि झूठ न बोलना चाहिए। रामप्यारी ने फिर पूछा,—"ये कहाँ मिलीं? अभी महीना चढ़ने में तो एक सप्ताह बाकी है। इसलिए तन्ख्वाह तो मिल नहीं सकती।"

चमनलाल ने कहा,—"तुम मुझे खाने-पीने के लिए हर रोज क्या दिया करती हो? बताओ!"

"चार आने हर रोज।"

"ये चार मास की वही चवन्नियाँ हैं, जो आज दो गिन्नियाँ बन गई हैं।"

रामप्यारी को किसी ने सहस्रों मीलों की ऊँचाई से धक्का दे दिया। अपनी फजूल खरची उसकी दृष्टि में आज तक मामूली बात थी। परन्तु पति की मितव्ययिता के सामने उसको अपने अनर्थ के रूप का अनुभव हुआ। सोचने लगी, ये कमाते हैं, परन्तु पैसा पैसा सँभालकर रखते हैं। मैं घर में बैठी राज करती हूँ, पर रुपयों को ऐसा समझती हूँ, मानों मिट्टी के ढेले हों। वह रोती हुई पति के चरणो से लिपट गई और बोली,—"तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब मैं एक पैसा भी व्यर्थ न खर्च करूँगी। ये गिन्नियाँ सँभालकर रक्खो, मुझे नई साड़ी की जरूरत नहीं। न मैं पार्टियों में जाना चाहती हूँ। मैंने भर पाया।"

परन्तु चमनलाल ने कहा,—"इतना व्यर्थ ख़र्च तुम करती रही हो, एक बार मुझे भी कर लेने दो। एक बार में हम ग़रीब न हो जाएँगे।"

(३)

दूसरे दिन जब दफ्तर बन्द हुआ, तो चम्मनलाल सीधे बजाज की दुकान पर पहुँचे और बोले,—"कोई अच्छी-सी रेशमी साड़ी दिखाओ।"

"क्या रङ्ग हो?"

"नसवारी, जोगिया, कबूतरी।"

बजाज ने साड़ियों का ढेर लगा दिया। चमनलाल घबरा गये कि कौन सी पसन्द करें। बहुत समय तक उलट पलटकर देखते रहे। कभी एक को पसन्द करते, कभी दूसरी को। सोचते, कैसी भूल की। रामप्यारी को साथ लाते, तो यह कष्ट न होता, अपनी पसन्द की चीज ले जाती। स्त्रियों और पुरुषों की पसन्द में भूमि-आकाश का अन्तर है। अन्त में एक साड़ी आँखों में जँची। उसे हाथ में लेकर बोले,—"इसका मोल बताइए। यही पसन्द आती है।"

बजाज ने साड़ी को हाथ में लेकर उसे जाँचा और जवाब दिया,—

"बाजार में यह साड़ी तीस रुपये में बिक रही है, पर आपसे पच्चीस ही ले लूँगा।"

चमनलाल को अगर मूल्य तीस रुपये बताया जाता, तो वह कहते, पच्चीस लीजिए, परन्तु बजाज के अपने मुख से वही मूल्य सुनकर उन्होंने उत्तर दिया,—"पच्चीस अधिक है।"

"आपकी दूकान है, उठाकर ले जाइए। अगर कोई दूसरा दूकानदार ऐसी चीज पौने पच्चीस में दे जाय, तो मैं आपसे एक कौडी भी न लूँगा। मुफ्त भेंट कर दूँगा।"

चमनलाल पर यह मन्त्र चल गया, रुपये फेंककर बोले,—"अगर पसन्द न आई, तो वापस कर दी जायगी। यह खयाल रखिएगा।"

दूकानदार को क्या एतराज था, बोला,—"बडी खुशी से। घर की बात है।"

चमनलाल साड़ी लेकर चले, तो हृदय आनन्द के मद से मतवाला हो रहा था और पाँव पृथ्वी पर न पडते थे। परन्तु बाजार से बाहर निकले, तो हृदय बैठ गया, घडी ने सात बजा दिये। उड़ते हुए गाड़ियो के अड्डे पर पहुँचे कि कोई टमटम मिल जाय, तो उसी पर बैठ जायँ। परन्तु वहाँ सन्नाटा छाया हुआ था। चमनलाल का कलेजा धडकने लगा। आनन्द में आदमी की सबसे बड़ी इच्छा यह होती है कि पर लग जायँ तो उड़कर घर पहुँच जाये। चमनलाल को टमटम भी न मिली। निराश होकर जमादार से बोले,—"इच्छरे की कोई टमटम मिल जायगी या सब चली गई?"

"जरा ठहरिए, तो मिल जायगी।"

सूखे धान में पानी पड़ गया, चमनलाल का बोझ उतरा। लालटेन के पास जाकर चाव के साथ साड़ी को देखकर मन ही मन में प्रसन्न होने लगे। अचानक कान में आवाज आई,—"कोई इच्छरे की सवारी?"

चमनलाल ने चौंककर आँख उठाई और टमटम की तरफ बढे। परन्तु वहाँ तक पहुँचने न पाये थे कि चार आदमी टमटम पर सवार

हो गये। चमनलाल के पाँव भूमि में गड़ गये। मगर फिर खयाल आया, रात का समय है, देखता कौन है? उचककर सवार हो गये और बोले--"जरा जल्दी चलो भाई! देर हो गई है।"

कोचवान ने जवाब दिया,--"बाबू साहब! अब तो सवारियाँ पूरी हो चुकी हैं।"

"कोई बात नहीं, रात का समय है। कौन देखता है।"

"जो किसी ने पकड़ लिया, तो आप छुड़ा लेंगे?"

चमनलाल ने बेपरवा होकर जवाब दिया,--"छुड़ा लूँगा।"

टमटमवाले ने यह समझा कि यह कोई उच्च अधिकारी है, इसे अपने ऊपर भरोसा है। उधर चमनलाल का विचार था कि इस समय कोई नहीं रोकेगा। परन्तु चौक में पहुँचते ही सिपाही ने डाँटकर कहा--"ठहर जाओ। कितनी सवारियाँ हैं तुम्हारी टमटम पर?"

टमटमवाले का हृदय सहम गया। उसने चमनलाल से कहा--"बाबू साहब। वही बात हुई।"

चमनलाल ने देखा कि विपत्ति सिर पर आ गई, कोरे से होकर बोले--"थोड़ी मिन्नत-खुशामद कर दो, तुम्हें फाँसी थोड़ा ही दे देगा। कह दो भूल हो गई।"

टमटमवाले की आँखें खुल गईं। उसे यह आशा नहीं थी कि चमनलाल इस प्रकार आँखें बदल लेंगे। वह काँपता हुआ टमटम से उतरा और पोलीसमैन के सामने हाथ जोड़कर बोला,--"सरकार! माफ करें फिर कभी ऐसी भूल न होगी।"

परन्तु पोलीसमैन ने न आँसुओं को देखा और न मिन्नत को सुना। उसने लपककर उसके सिर से नम्बर उतार लिया, और कहा,--"कल कचहरी आना। वहाँ बात करेंगे।"

कोचवान उदास होकर टमटम पर चढ़ा और घोड़े को चाबुक लगाकर बोला,--"बाबू साहब! आपने यह जुल्म किया है। जुर्माना हो जायगा।"

परन्तु चमनलाल चुप साधे रहे। यह चुप्पी बेचारे कोचवान के हृदय के घाव पर नमक छिड़क गई। सहानुभूति के दो शब्द शायद उसपर मरहम का काम दे जाते। इच्छरे पहुँचे तो वह मन में चमनलाल को हजारो गालियाँ दे रहा था, परन्तु चमनलाल घरवाली को साड़ी दिखाने के चाव में मस्त थे। उनको बेचारे कोचवान की परवा न थी। लपकते हुए घर चले गये।

(४)

दूसरे दिन कोचवान का मुकदमा मैजिस्ट्रेट के सामने पेश हुआ। मैजिस्ट्रेट की प्रकृति बड़ी कठोर थी, क्रोध से बोला,—"टुम पाँच सवारी क्यो बैठाया।"

कोचवान ने हाथ बाँधकर और आँखों में आँसू भर कर उत्तर दिया,—"सरकार! अब माफ कर दें, फिर कभी गलती न होगी, गरीब आदमी हूँ।"

"लेकिन कानून के माफिक क्यों नहीं चला? अब रोने माँगटा। हम क्या कर सकटा?"

"हजूर माई-बाप हैं। यह पहली भूल है, माफ कर दें। सारी उमर दुआ देता रहूँगा।"

"हूँ।"

"सरकार सच कहता हूँ, फिर ऐसी खता न होगी। अबकी माफ कर दें। गरीब आदमी हूँ, जुर्माना न दे सकूँगा। जुर्माना हो गया, तो मर जाऊँगा सरकार! अबकी बख्श दें।"

मगर मजिस्ट्रेट को जरा रहम न आया। उसने कुछ देर विचार किया और पच्चीस रुपये जुर्माना कर दिया। कोचवान के पास रुपये न थे, इसलिए हवालात में डाल दिया गया।

घर में उसकी स्त्री ने यह सुना, तो पछाड खाकर गिर पड़ी। कुछ देर बाद सुध आई, तो लाला संसारचन्द के पास पहुँची और सहायता के लिए प्रार्थना की। उसका पति उसी की टमटम ठेके पर चलाया करता था। परन्तु उसने किसी तरह की सहायता न की। तब वह

निराश होकर वापस लौटी। अगर चमनलाल के यहाँ चली जाती, तो वह उसका जुर्माना भर देता, परन्तु उसे विश्वास न आता था कि इसमें सफलता होगी। इसपर उसने चमनलाल को हजारों गालियाँ दे डालीं। स्त्री क्रोध में हो, तो बफरी हुई शेरनी बन जाती है। अगर उस समय चमनलाल उसके हाथ आ जाते तो वह उनका पेट चीर देती, परन्तु विवश थी। विवश मनुष्य का मुंह बहुत चलता है। उसने भी गालियाँ देकर क्रोध उतारा और बच्चों को गोद में लेकर रोने लगी। यह स्त्री का आखिरी हथियार है।

इधर कोचवान हवालात में बन्द था, उधर चमनलाल बुखार में बेहोश पड़े थे। रामप्यारी की आँखों से आँसू बह रहे थे। वह ओषधि पर ओषधि दे रही थी, परन्तु रोग में कमी न होती थी। एक दिन बीत गया, दो दिन बीत गये, तीन दिन बीत गये, शरीर तन्दूर के समान तप रहा था, रोग घटने का कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता था। रामप्यारी मिन्नतें मान रही थी, हनूमान के नाम लड्डू देने का प्रण कर रही थी और बारबार हाथ लगाकर देखती थी, परन्तु बुखार कम न होता था। देह तपती थी।

तीसरे पहर का समय था। रामप्यारी चमनलाल के सिरहाने बैठी उसके मुंह की तरफ ताक रही थी कि उन्होंने आँखें खोल दीं और कहा,—रामप्यारी!"

रामप्यारी का मुंह चमकने लगा, रोम-रोम में आनन्द की लहर दौड़ गई। नीचे झुककर बोली,—"क्यों? क्या हाल है अब? जी कैसा है?"

"करमदीन बोदीवाला कोचवान है। उसे पच्चीस रुपये जुर्माना हुआ है। वह मुझे होना चाहिए था।"

"आपको क्यों?"

"मैं जबरदस्ती उसकी टमटम पर चढ़ बैठा था। यह मेरा दोष है, उसका नहीं।"

"फिर।"

"उसे रुपये दे दो।"

रामप्यारी ने ठण्डी सांस भरकर जवाब दिया,—"रुपये कहाँ हैं मेरे पास?"

चमनलाल सुध में न थे, बोले,—"बटुए में दो गिन्नियाँ हैं वही दे दो।"

रामप्यारी के हृदय में वाण-सा लगा। वह करमदीन के कैद होने की घटना सुन चुकी थी। मगर इस घटना का उसके पति से सम्बन्ध है, इसका उसे पता न था। पति के मुँह से अपराध-स्वीकृति सुनकर उसे विश्वास हो गया कि चमनलाल को ठण्डी आहों ने बुखार चढा दिया है, दवा से न उतरेगा। उसके लिए दुआ की जरूरत है। वह घबराई हुई उठी और पड़ोसिन के पास जाकर बोली,—"बहन तेरे पास पच्चीस रुपये हैं? मै पहली को लौटा दूंगी।"

पडोसिन के पास रुपयो का घाटा न था, परन्तु उसने देना उचित न समझा, मुँह बनाकर बोली,—"नहीं, मेरे पास नही। होते, तो तुमसे क्या फर्क है।"

रामप्यारी के हृदय को इस उत्तर से बडा आघात पहुँचा। यही पडोसिन थी, जिसे उसने कई रुपये की मिठाई खिला दी थी। परन्तु समय पर वह इस तरह आँखें चुरा लेगी इसकी उसे जरा आशा न थी। उसके कोरे उत्तर ने रामप्यारी की आँखें खोल दीं। पिछले निरर्थक खर्च उसके सामने मूर्तिमान् हो गये। सोचा, अगर बचाकर रखती, समझ-सोचकर खर्च करती, पैसे को पैसा जानती, तो पच्चीस रुपयों के लिए आज हाथ न पसारना पड़ता। इस पडोसिन का घरवाला, जिसके रुपये सूद पर चढे रहते हैं, पचास रुपया मासिक कमाता है। मेरे यहाँ सौ रुपये से अधिक की आय है, परन्तु हाथ में पैसा नहीं। उन्होंने सैकडों वार समझाया, और सोच-विचार कर खर्च करने का उपदेश किया, रामप्यारी के मन में यह बात न बैठी थी। परन्तु इस मामूली-सी घटना ने उसके मन में हलचल मचा दी। जो काम घडों जल से नहीं हो सकता, उसे शराब के दो घूंट कर देते हैं। जो काम तलवार से नहीं होता, उसे कांटा कर देता है।

(५)

रामप्यारी रोती हुई उठी और अपनी नई साड़ी लेकर ताँगे में बैठ गई और शहर को चली। बजाज के पास जाकर बोली,—"यह साड़ी ले लो, मुझे पसन्द नहीं।"

बजाज को उनका बहुत लिहाज था। उसने नम्रता से कहा,—"कोई और दिखाऊँ?"

रामप्यारी साड़ी को नापसन्द होने के कारण नहीं, बल्कि जरूरत के कारण लौटा रही थी। मगर इस बात को बजाज भाँप गया तो कदाचित् न लौटाये, इस विचार से उसने उत्तर दिया,—"दिखाओ। पर बढ़िया चीज हो।"

बजाज ने कई साड़ियाँ दिखाईं, परन्तु रामप्यारी ने सबमें कोई न कोई दोष निकाल दिया। बजाज ने हार कर रुपये लौटा दिये। उन रुपयों को हाथ में लेते समय रामप्यारी को यह मालूम हुआ, कि वह पति का स्वास्थ्य खरीद रही है। यह साड़ी खरीदते समय वह प्रसन्न हुई थी, वापस करते समय उससे भी अधिक प्रसन्न हुई। आज उसकी दुनिया बदल गई थी। आज उसका दृष्टिकोण बदल गया था।

सायंकाल हो गया था। रामप्यारी इच्छरे पहुँची और उड़ती हुई करमदीन कोचवान के घर गई। किवाड़ बन्द थे। रामप्यारी अपराधिन की भाँति सिर झुकाकर खड़ी हो गई और सोचने लगी,—"किवाड़ क्योंकर खुलवाऊँ।" इतने में अन्दर से आवाज आई,—"अल्लाह! उसका बेड़ा गर्क कर। मेरा आदमी कैद में है और वह घर में पड़ा है। उसका सत्यानास कर। जिसका कसूर है; अल्लाह उसको जवानी की मौत दे। मेरा शौहर बेकसूर है, उसे कैद से छुड़ा।"

रामप्यारी अब न सह सकी। उसने जोर से साँकल हिलाई। कोचवान की बीबी ने किवाड़ खोल दिया। रामप्यारी का विचार था कि उसकी गालियों का उत्तर दे और उसका मुंह जोर से बन्द कर दे। परन्तु उसकी जिह्वा को किसी ने पकड़ लिया और पांव भूमि में गाड़ दिये। तसवीर बनकर रह गई।

कोचवान की स्त्री ने देखा, कोई भले घर की सुन्दरी सामने खडी है। वह घबराकर बोली,—"आप किसे पूछती हैं यहाँ?"

रामप्यारी को बातचीत का रास्ता मिल गया। उसने धीरे से उत्तर दिया,—"तुम्हें पूछती हूँ।"

"मुझे?"

"हाँ हाँ, मैं तुम्हें ही पूछती हूँ। मैं तुम्हारी अपराधिन हूँ। मैं क्षमा माँगने आई हूँ।"

कोचवान की स्त्री हैरान-सी होकर पूछा,—"साफ साफ कहें। आपका मतलब क्या है?"

"तुम अभी अभी गालियाँ किसे दे रही थीं।"

"लाला चमनलाल को। उसने मेरे घरवाले को कैद करा दिया है। तुम उनकी कौन हो?"

"मैं उनकी स्त्री हूँ।"

कोचवान की स्त्री हैरान-सी खड़ी रह गई और नम्रता-पूर्वक विनय-भाव के साथ बोली,—"मेरा मन बहुत दुखी है, मेरी जबान मेरे काबू में नहीं। जाने क्या क्या बक गई।"

जब क्रोध नम्रता का रूप धारण कर लेता है तो अभिमान भी सिर झुका लेता है। रामप्यारी ने हाथ जोड़कर कहा,—"गालियाँ उनको न दो, मुझे दो। यह मेरा अपराध है। यदि मैं सीधी राह चलती, यदि मैं सोच-समझकर, उचितानुचित देखकर खर्च करती, तो आज उनकी यह दशा न होती। मखमली स्लीपरों के बिना मुझे ही चैन न पड़ता था। फलों के बिना मुझे ही रोटी न पचती थी। रेशम का थान मेरे लिए ही मँगवाया गया था। साड़ी मेरे लिए ही आई थी। तुम्हारी अपराधिन मैं ही हूँ। तुम्हारे शाप मेरे नाम पर पड़ने चाहिए। तुम्हारी आवाज मेरे विरुद्ध उठनी चाहिए। वे चाहते थे कि तुम्हारे पति का जुर्माना आप अदा कर दें, परन्तु व्यर्थ के खर्च रास्ते में बाधक हुए, तुम मुझको कोसो, मुझे शाप दो, तुम्हारी अपराधिन मैं हूँ। मेरा पति बेकसूर है।"

कोचवान की स्त्री ने सिर झुकाकर उत्तर दिया,—"मेरी जबान में कीड़े पड़ जायें, ये बातें क्यों कहीं? पर रानी! देख लो, मेरे घर का सारा असबाब पच्चीस रुपये का भी नहीं, वर्ना तन के कपडे बेचकर भी उनको छुड़ा लाती। तुम नहीं जानती, हमने भी कभी अच्छे दिन देखे हैं। पर आज पैसे पैसे को लाचार हैं। जब से वे हवालात में हैं, हमारे चूल्हे में आग नहीं जली। रात-दिन रोते-रोते कटती है। और जानती हो, जहाँ आग होगी, वहाँ से शोले ही उठेंगे? आग में सरदी कहाँ? आग में मिठास कहाँ?"

रामप्यारी ने दुपट्टे के अञ्चल से रुपये खोले और कोचवान की स्त्री के हाथ में रख दिये। इस समय उसका मन आनन्द से नाच रहा था, जैसे सूरज की सुनहरी किरणें पानी पर नाचती है। उसने अच्छे से अच्छे खाने खाये थे, बढ़िया से बढ़िया वस्त्र पहने थे, धनवान् स्त्रियो से मिली थीं, परन्तु ऐसा आध्यात्मिक आनन्द, ऐसा सच्चा सुख उसे आज पहली ही बार अनुभव हुआ। वह आनन्द से केले के पत्ते की तरह काँपने लगी। इस समय उसने एक नेकी की थी। इस समय उसने एक गरीब की सहायता की थी।

कोचवान की स्त्री कृतज्ञता के भाव से रामप्यारी के चरणों में गिर पड़ी और रोती हुई बोली,—"मुझे माफ करो। मैंने तुम्हें बहुत दुख दिया है।"

रामप्यारी ने उसे उठाकर अपने गले से लगा लिया और कहा,—"उनको तीन दिन से अपने तन की भी सुध नहीं। उनके लिए दुआ करो। इससे उनका बुखार उतर जायगा।"

कोचवान की स्त्री घुटनों के बल झुक गई और अपने दोनो हाथ ऊँचे उठाकर बोली,—"अल्लाह! उसे राजी कर। अल्लाह! इसके कलेजे को ठण्ढक दे।"

रामप्यारी ने यह सुना, तो खुश हो गई। उसे विश्वास हो गया कि चमनलाल का बुखार उतरने में अब देर नहीं। वह भागी भागी

घर पहुँची। परन्तु आशीष उससे पहले पहुँच चुकी थी। चमनलाल का बुखार हलका हो गया था और वे धीरे धीरे अपनी बेटी से बातें कर रहे थे। रामप्यारी को देखकर बोले,—"साड़ी हाथ से गई।"

"परन्तु उसके बदले में ऐसी शिक्षा मिली है जो जीवन भर न भूलेगी। और यह शिक्षा साधारण नहीं। इसके सामने बड़े से बड़ा आभूषण भी तुच्छ है। आज मेरी आँखें खुल गई हैं। मगर अब आपका हाल क्या है?"

"अच्छा हूँ।"

और दूसरे दिन उनका बुखार उतर गया।

पाप-परिणाम

(१)

रात के दो बजे साधु अपने गर्म बिस्तरे से उठा, और नदी के किनारे पर जाकर खड़ा हो गया।

चारो ओर अन्धकार था। आकाश में तारे आँखें मींचते थे। किसी तरफ से कोई हल्की-सी आवाज न सुनाई देती थी। संसार और उसका कोलाहल इस शून्य अन्धकार में इस तरह डूब चुके थे, जिस तरह कोई नौका अपने यात्रियो समेत समुद्र की गरजती हुई लहरों में समा जाय। साधु के पाँवों की चाप दूर-दूर तक सुनाई दे रही थी, मानों प्रकृति की निस्तब्धता उस साधु के कुसमय के हस्तक्षेप के विरुद्ध विद्रोह कर रही है। परन्तु जिस तरह साधु ने मनोहर स्वप्नों से भरे हुए गर्म बिस्तर और उसके शोभा-मय सुख तथा विश्राम का विचार न किया था, उसी तरह प्रकृति की इस मौन-भञ्जक चीख-पुकार की परवा न की, और अपनी कुटिया से निकलकर नदी-किनारे पहुँच गया।

पानी बहुत ठण्डा था, जैसे किसी बेपरवा नौकर ने अपने शराबी मालिक के बार बार कहने से तङ्ग आकर थोड़े से पानी में बहुत-सी बर्फ डाल दी हो। साधु ने उसकी ओर देखा और उसका हृदय डर गया। उसने बैठकर पानी में हाथ डाला और काँपकर पीछे हटा लिया। मालूम होता था, नदी भी इस हस्तक्षेप को सहन न करती थी। उसने अपनी सम्पूर्ण बर्फानी ताकत की परीक्षा साधु के हाथ पर की, और परिणाम देखने के लिए ठहर गई। मगर साधु पर इसका कोई असर न हुआ। उसने अपनी काली कमली शरीर से उतारी और आँखें बन्द करके पानी में कूद पड़ा।

साधु पर बेहोशी की-सी दशा छा गई, वह पानी की तरङ्गों के साथ-साथ इस तरह बहने लगा जैसे कोई अपराधी सिपाहियों से घिरा

हुआ थाने को जा रहा हो। एकाएक वह अपने पाँव नदी के जल से भी अधिक ठण्डी रेत पर जमाकर खड़ा हो गया, और अपने शरीर तथा आत्मा का पूरा बल लगाकर तट पर जा चढ़ा। इस समय उसके चेहरे पर आनन्द बरसता था। अपराधी सिपाहियो के घेरे से बाहर निकल आया था। सिपाही देखते थे, और कुछ कर न सकते थे।

थोडी देर के बाद वह अपनी कुटिया में वापस आ गया, और अपने बिस्तर के पास खड़ा होकर उसको बेकसी और बेबसी की दृष्टि से देखने लगा, जैसे कोई भूख का मारा गरीब धनवान आदमी को अच्छे-अच्छे खाने खाते देखकर व्याकुल हो जाता है, पर इसके सिवा कुछ नहीं कर सकता कि अपनी बेबसी पर सन्तोष करे। यहाँ उसने अपनी कमली फिर उतार दी और कोने से एक कोड़ा उठाकर उसे अपनी देह पर पूरे जोर से मारने लगा। उस समय अगर उसे कोई देखता, तो यही समझता, कि वह पागल है। मगर वह पागल न था, अपने इलाके का सबसे समझदार साधु था।

वायुमण्डल उसके करुण-क्रन्दन से गूँज रहा था। मगर वह अपनी देह पर उसी जोर से कोडे बरसा रहा था, मानो उसका हाथ उसके शरीर का एक अङ्ग न रहा हो, और वह किसी आदमी पर नहो, किन्तु निर्जीव माँस-पिण्ड पर अपने बल की परीक्षा कर रहा हो।

० ० ० ०

जब प्रभात का चाँदना हुआ, तो लोगों ने देखा कि साधु अपनी कुटिया के ठण्डे फर्श पर बेहोश पड़ा है और उसके कई अगों से खून बह रहा है। उन्होने आग जलाई और उसके ठण्डे शरीर को कम्बल में लपेटकर उसके नजदीक रख दिया। जब दो-तीन घण्टे बीत गये तब उसने आँखें खोलीं, चारों तरफ देखा, और ठडी साँस भरकर उठ बैठा।

परन्तु अब उसमें वह धीरज न था। उसकी जगह सिसकियो और हिचकियो ने ले ली थी। कुछ देर बाद जब उसके आँसू रुके तब उसने अपने हाथ आग पर गर्म करते हुए अपना हाल यूँ कहना शुरू किया—

(२)

पचास साल बीते, जब मैंने गरीबी की दशा में संसार के संग्राम-क्षेत्र में पाँव रक्खा। उस समय न हमारी जरूरतें इतनी अधिक थीं, न जीवन-सामग्री इतनी मँहगी। पचास-साठ रुपये कमानेवाला आदमी राजा समझा जाता था। तुम विश्वास न करोगे, मगर मैंने अपनी आँखों से ऐसे आदमियों को देखा है जो सिर्फ पन्द्रह-बीस रुपये कमाते थे, और दस-बारह आदमियों के कुटुम्ब का पालन करते थे, और गरीबी से नहीं, बड़े राजसी ठाठ से। अब ये बातें सुपना हो गई हैं। लोग इनपर विश्वास नहीं करते। रुपये का मूल्य चवन्नी भी नहीं रहा। उस समय लोग गरीब न रहे हों, सो नहीं है। मैं खुद गरीब था, ऐसा गरीब कि कई-कई दिन अन्न के बिना बीत जाते थे। मैंने कई जगहों पर नौकरी का यत्न किया, मगर कहीं सफलता न हुई। छोटा काम करने को जी न चाहता था। लोक-लाज पावों की जन्जीर बन जाती थी। परन्तु जब कई महीने खाली बैठे बीत गये तब लज्जा दूर हो गई। मैंने मिठाई का खोंगचा लगा लिया। काम छोटा था, मुनाफा बडा था। थोड़े ही दिनों में हालत बदल गई। सुख से दिन कटने लगे, यहाँ तक कि मेरे पास डेढ़ सौ रुपया नगद जमा था। मैं फूला न समाता था।

इतने रुपये आज-कल के समय में कुछ नहीं के बराबर हैं। परन्तु उस समय लोग इतने रुपये को एक भारी रकम समझते थे। मेरी खुशी का ठिकाना न था। ऐसा प्रसन्न फिरता था, जैसे किसी को पटवारगिरी मिल गई हो। हँसने की बात नहीं, पटवारी का पद उस समय ऐसा भारी पद था जैसी आज-कल डिप्टी कमिश्नरी भी नहीं। मेरे दिन अच्छे थे, दो मेहनती आदमियो से भेंट हो गई। उन्होंने कहा, क्या मजदूरी कर रहे हो, हमारे साथ मिलकर व्यापार करो तो थोड़े दिनो में सोना हो जाओ। लक्ष्मी व्यापार में बसती है, नौकरी और मजूरी में नहीं बसती।

बात साधारण थी, परन्तु मेरे दिल में शौक पैदा हो गया। मैंने

खोमचे का काम छोड दिया, और उनके साथ मिलकर व्यापार करने लगा। हम एक जगह से सस्ता माल खरीदते थे, दूसरी जगह पर मँहगे भाव बेच देते थे। थोड़े ही दिनों में रुपया ककरो की तरह आने लगा। पता नहीं, भाग अच्छे थे अथवा हमारी बुद्धि का चमत्कार था, मिट्टी को हाथ लगाते, तो वह भी सोना हो जाती थी। व्यापार में लाभ भी होता है, हानि भी। परन्तु परमात्मा जिसे देने पर आता है उसे हानि नहीं होती, लाभ ही लाभ होता है। मालूम होता है, परमेश्वर उन दिनों हमको देने पर तुला हुआ था। हमें किसी सौदे में हानि न होती थी। इसी तरह कमाई के तीन वर्ष बीत गये। उस समय हमारे पास बहुत-सा रुपया था। हमने छोटे-मोटे सौदे करने छोड़ दिये और जेहलम में लकडी का काम करने लगे। यह काम धीरे-धीरे इतना बढा कि हमको इसपर खुद आश्चर्य होता था। रुपया पानी की तरह आने लगा। दस वर्ष के बाद जब हिसाब किया गया तो हमारे हिसाब में दो लाख से ऊपर रुपया जमा था। अब हमारे दिलो में मैल आने लगी। जब तक गरीब थे तब तक एक दूसरे पर भरोसा था, अब धनवान् हुए तब वह भरोसा जाता रहा। एक दूसरे पर आँख रखने लगे। कभी-कभी जोश में आ जाते थे, जैसे हम आदमी नहीं थे लहू के प्यासे भेडिये थे। दौलत ने आँखों पर परदे डाल दिये। हममें से हर एक यही चाहता था कि दूसरे भाईवाल मर जायें, तो सारा धन उसीका हो जाय। कुछ दिन तक यह भाव दबे रहे, जैसे राख तले अँगारे दबे रहते हैं। परन्तु कब तक? अन्त में निश्चय हुआ कि हिस्सेदारी तोड दी जाय और सब अलग-अलग हो जायें। अब अग्नि के चिनगारे राख से बाहर निकल आये थे, और धधक रहे थे, और उनके पास बैठना मुश्किल था।

(३)

मेरे भाईवाल लाला प्रभुदास और लाला हिकमतराय थे। प्रभुदास समझदार आदमी था, और बुरा न था। जो कुछ जी में आता, मुख से कह देता। वह कोई बात छिपाता न था, न छिपाना चाहता था।

उसकी यह दुष्ट प्रकृति हमें एक आँख न सुहाती थी। इसके विपरीत हिकमतराय बडा चतुर था। वह अपने भावों को मुँह पर न आने देता था। हृदय में क्रोध भी होता तो हँस-हँसकर बातें करता, जैसे उसे कोई रंज ही नहीं। मैं उसके इस गुण पर मुग्ध हो गया। पीतल पर सोने का धोखा हो रहा था। जब किसी बात पर झगड़ा हो जाता तब मैं और हिकमतराय एक तरफ होते, प्रभुदास दूसरी तरफ। हम दोनों के सामने उसकी एक न चलती, वह देखता रह जाता, हम मिलकर जो चाहते, कर लेते, और उसे चिढ़ाते।

जब अलग-अलग होने का निश्चय हो गया तब हिकमतराय मेरे पास आया, और बोला—"तो अलग-अलग होने की नौबत आ गई। कुछ और नही हो सकता?"

मैंने उसके मुँह की ओर देखते हुए कहा,—"और क्या हो सकता है, तुम ही बताओ। मुझे तो कुछ सूझता नहीं।"

"यदि बटवारा न होता तो अच्छा था।"

"परन्तु अब तो इकट्ठे न निभेगी।"

"लोग क्या कहेंगे?"

"कहने दो, हम कर ही क्या सकते हैं?"

हिकमतराय ने ठंडी साँस भरकर कहा,—"इस प्रभुदास ने काम बिगाड़ दिया, नहीं तो हम कभी अलग न होते। जैसे अभी तक चला है, चलता जाता।"

"अब मेरे सामने उसका नाम न लो।"

"मुझे यह कल्पना भी न थी कि वह ऐसा फसादी आदमी हो सकता है।"

"जी चाहता है, उसे गोली से उडा दूँ।"

"उसे अपनी नेकदिली का बड़ा घमंड है।"

"दूसरों को तुच्छ समझता है। अब उसके साथ काम करने को जी नहीं चाहता।"

हिकमतराय ने मेरे पास सरककर भेदभरी आँख से कहा—"अस्सी हजार रुपये के लगभग ले जायगा।"

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे किसी ने कुएँ में धकेल दिया हो। कलेजा जोर-जोर से धड़कने लगा। कहा—"बिलकुल बेवकूफ आदमी है। सारा काम हम दोनों करते रहे हैं। हिस्सा वह भी बराबर का ले जायगा।"

"इसमें क्या शक है।"

"मेरा बस चले तो उसे कौड़ी न दूं।"

"तबाही मचा देगा। पानी पीना मुश्किल कर देगा। अदालत में घसीटकर ले जायेगा।"

"क्या कोई उपाय नहीं?"

हिकमतराय ने आकाश की ओर देखकर कहा—"परमात्मा उसे मौत दे तो हमारा काम बन जाय।"

जिस तरह सांप का जहर देखते-देखते आदमी के शरीर में फैल जाता है उसी तरह ये शब्द मेरे मस्तिष्क में घूम गये। सोचने लगा क्या उसे मौत नहीं आ सकती? दो दिन इसी उधेड़-बुन में बीत गये। तीसरे दिन पता लगा कि प्रभुदास बीमार है। मैं जमीन से उछल पड़ा। आशा-लता लहलहाती दिखाई देने लगी। हिकमतराय से सलाह करके भागा-भागा डाक्टर के पास गया। देर तक एकान्त में बातें होती रहीं, परन्तु डाक्टर मानता न था। मैं हारे हुए जुआरियो की नाई रुपये बढाता जाता था, यहाँ तक कि पाँच हजार पर बात पक्की हो गई और उसने प्रभुदास की दवा में एक खास तरह का चूर्ण मिला दिया। उस समय मैं ऐसा खुश था जैसे किसी को रियासत मिल गई हो। प्रभुदास रात को मर गया। उसने अभी तक ब्याह न किया था, न उसका कोई निकट-सम्बन्धी था। एक दूर के सम्बन्धी ने दावा करके हिस्सा लेने की धमकी दी। परन्तु हमने कह दिया कि वह हमारा नौकर था, हिस्सेदार न था मेहरबानी के तौर पर हमने उसे कुछ रुपये

भी दे दिये। इन रुपयों ने उसका मुंह बन्द कर दिया। प्रभुदास का रुपया आधा मैंने ले लिया, आधा हिकमतराय ने। उस समय मुझे जरा भी खयाल न आया कि यह पाप है। मगर आज उसकी याद ही से शरीर और आत्मा दोनों कांप जाते है।

(४)

उन दिनों मेरा ब्याह हो चुका था, मगर सन्तान कोई न थी। हम दोनों पति-पत्नी पुत्र का मुख देखने को तरसते थे। कभी साधुओं के यहां जाते, कभी वैद्यों की औषधियां खाते कभी जादू-टोने करते, परन्तु इनसे कुछ बनता न था। जब रुपया बँट चुका, तो मैंने स्त्री को लेकर हरद्वार की यात्रा की और दो-तीन महीने वहीं टिका रहा। उस समय मुझे विचार आता था कि मैंने पाप किया है, मुझे सुख न मिलेगा। इस विचार से मेरा हृदय व्याकुल हो जाता था, पहरों परेशान रहता था, ठण्डी आहें भरता था, आंखों में आंसू भर आते थे। यही चाहता था; कि यदि सम्भव हो तो बीता हुआ समय लौटा लूं। परन्तु यह असम्भव था। बीता हुआ समय और मुंह से निकला हुआ शब्द कब वापस आया है। तब मैं इस विचार को मन से भुला देने का यत्न करता था, और साधु-सन्तों की सेवा करके अपने विचार के अनुसार पाप के कलङ्क को धो देता था। यदि मुझे उस समय यह ज्ञान होता कि यह काम इतना सुगम नहीं जितना कि मैं समझ रहा हूँ, तो मैं कभी बेपरवाई न करता।

मगर मुझे अपने पाप का दण्ड न मिला, बल्कि उसी वर्ष मेरे यहां एक पुत्र हो गया। मेरे आनन्द का पारावार न था। मेरे पाँव भूमि पर न पड़ते थे, सोचता था, मेरे जैसा भागवान कौन होगा ? धन और सुन्दर स्त्री पहले ही से प्राप्त थे, अब सन्तान भी मिल गई। संसार इन्हीं तीन चीजो पर मरता है, मेरे पास तीनो थीं। अपना कारोबार आरम्भ किया, उसमें भी कामयावी हुई। अब पाप की याद भी न रही। संसार की क्षणिक सफलताओ और थोडे दिन के सुखो ने उसे आँख से ओझल कर दिया। पुण्यकर्म संसार का प्रकाश है, यह विचार

झूठा सिद्ध हुआ। ससार में पाप फलता है यह बात साबित हो गई। ज्यों ज्यों बेटा बड़ा होता गया, खुशी अपनी चादर फैलाती गई। पहले उसकी शिक्षा का प्रबन्ध घर पर किया गया, बाद में स्कूल भेज दिया। तुमसे क्या कहूँ, वह कैसा प्यारा और सरल-हृदय था। उसके चेहरे पर भोलापन खेलता था, आँखो में सादगी नाचती थी। जो देखता कहता, वडा भाग्यवान् लडका है। माता-पिता का नाम करेगा। मैं यह सुनता, तो आनन्द में झूमने लगता। परन्तु कभी-कभी किसी अज्ञात भय से हृदय पर वोझ सा आ पडता, जैसे कोई कलेजे पर पत्थर-सा रख दे, जैसे कोई सिर पर बोझ रख दे।

इसी प्रकार बीस वर्ष बीत गये। बंशीलाल ने बी० ए० की परीक्षा पास कर ली और लॉ कालेज में पढने लगा। मैं यह देखता था, और प्रसन्न होता था। सोचता था, एक दो वर्ष की बात है, बंशीलाल वकील हो जायगा। उसके बाद जजी मिलना कुछ कठिन नहीं। इस विचार से मेरा हृदय प्रफुल्लित हो जाता था। उन दिनो की आज भी याद करता हूँ, तो आँखो से लहू के आँसू वहने लगते हैं। मेरा जीवन चाँदनी रात के समान था, जिसमें नाच और रंग रेलियाँ हो रही हों। सहसा यह मधुर संगीत करुण-विलाप में बदल गया—मेरी स्त्री को बुखार आने लगा। यह बुखार कोई असाधारण ज्वर न था। सावधानी से इलाज होने लगा। मगर एक महीना बीत गया बुखार न उतरा। दूसरा और तीसरा महीना भी इसी तरह बीत गया, और आराम न हुआ। अब मुझे भी चिन्ता हुई। लाहौर ले जाकर इलाज कराने का विचार किया। उन दिनो पजाब में डाक्टर हैनरी वुड का बड़ा नाम था, उसे दिखाया। उसने बड़े ध्यान से देखा, और मुझसे एकान्त में कहा—"तपेदिक है, अब न बचेगी। दिल कडा कर लो।"

यह सुनकर मेरे हाथो के तोते उड़ गये। ऐसा मालूम हुआ, जैसे आकाश सिर पर गिर पड़ेगा। डाक्टर की बात का विश्वास न हुआ। आश्चर्य से बोला—"तपेदिक है क्या?"

"हाँ तपेदिक। शायद बच जाय, नुसखा लिखे देता हूँ। मगर कोई आशा नहीं।"

मैंने पूछा—"किसी पहाड़ पर ले जाऊँ तो कैसा हो?"

"जिन्दगी जरा लम्बी हो सकती है, मगर बीमारी न जायगी। मेरा यही खयाल है!"

"डाक्टर साहब! आपसे जो कुछ हो सकता है, कीजिए! इसे किसी तरह बचाइए। रुपये की परवा न कीजिए। आप जो माँगेंगे, मैं भेंट करूँगा।"

मेरी आँखो में आँसू थे, शब्दो में हृदय की व्यथा। डाक्टर साहब ने करुणापूर्वक कहा—"मैं अपनी तरफ से पूरी कोशिश करूँगा, मगर आप यह बात मरीजा पर जाहिर न होने दें। यह खतरनाक है।"

परन्तु यह बात मरीजा पर जाहिर हो गई। पता नहीं किस तरह? एक दिन मुझसे रोते रोते कहा,—"मेरे मरने में अब अधिक दिन नहीं। अब बंशी का ब्याह कर दो, यह तो अपनी आँखो से देख लूँ। यह मेरी साध है।"

और मैंने उसकी यह साध पूरी कर दी। उसी महीने बंशी का ब्याह हो गया। इसके बाद हम सब सोलन चले गये। आशा अन्तिम श्वास तक साथ नहीं छोड़ती। मुझे आशा थी, वह बच जायगी।

(५)

मगर वह न बची। छः मास के बाद उसका जीवन-प्रदीप निर्दयी मौत के निष्ठुर झोकों ने बुझा दिया। मुझपर आफत टूट पड़ी। और बंशी की दशा तो देखी न जाती थी। किसी ब्याहे हुए लड़के को अपनी माता से इतना प्रेम हो सकता है, यह मेरे लिए नया अनुभव था। वह फूट-फूट कर रोता था। मैं उसे समझाता था, चुप कराता था, धीरज देता था, परन्तु उसका रोना कम न होता था। उसका उदास मुख देखकर मुझे अपना दुःख भूल जाता था। मुझे कोई ऐसा दिन याद नहीं जब बंशी मा को याद करके न रोया हो। कभी वह पुस्तको

का कीड़ा था, परन्तु अब पुस्तक देखने को उसका जी न चाहता था। हारमोनियम का चस्का था, वह भी न रहा। सैर का शौक था, वह भी छूट गया। दिन-रात उदास रहने लगा। मेरे हृदय में नई चिन्ता उत्पन्न हुई। मैंने उसका जी बहलाने का हर एक यत्न किया, परन्तु मुझे किसी में भी सफलता न हुई। लोग अपने पुत्रो के विषय में शिकायत किया करते है कि उन्हें माता-पिता से स्नेह नहीं। मै चाहता था कि कदाचित् बशीलाल में यह दोष होता तो ये दिन देखने न पडते। परन्तु जो ललाट में लिखा है उसे कौन मिटा सकता है। बशीलाल भी बीमार रहने लगा।

इतने में मालूम हुआ, मेरा कारोवार नष्ट हो गया है। जिस कारिंदे के हाथ मैंने काम-काज सौंप रक्खा था उसने मुझे धोखा दिया और दो-अढ़ाई लाख रुपया उडाकर भाग निकला। यह देखकर मेरे पाँवो-तले की मिट्टी निकल गई। बंशीलाल और उसकी स्त्री को सोलन छोड़ कर जेहलम पहुँचा, परन्तु वह कारिंदा कहाँ था। समाचार-पत्रों में विज्ञापन दिये, पुलिस में रिपोर्ट की, परन्तु वह न पकडा जा सका, न डूबा हुआ रुपया बचा। मैंने कारोवार को सँभालने का असीम प्रयत्न किया, परन्तु वह न सँभला। दिन पर दिन दशा बिगडती गई। जिस काम में हाथ डालता था, उसी में हानि हो जाती थी। मुनाफा किसी में न होता था। कभी वह दिन थे, हर काम में मुनाफा होता था नुकसान किसी में न था—अब भाग्य का पासा पलट चुका था।

चार महीने बीत गये और बंशीलाल और उसकी स्त्री सोलन से आये। उसका मुंह देखकर मेरे प्राण होठों तक आ गये। मै डाक्टर नहीं न मैंने चिकित्सा का कोई ग्रन्थ देखा है। परन्तु मैंने अपनी स्त्री की बीमारी देखी थी। मुझे बंशीलाल के मुख पर वही रग दिखाई दिये जो मेरी मृत-पत्नी के मुख पर थे। मेरे कलेजे पर किसी ने अङ्गारे रख दिये। मैंने बंशीलाल से कुछ न कहा परन्तु अपने कमरे में जाकर रात भर रोता रहा। दूसरे दिन डाक्टर को दिखाया। मेरी आँख फड़कने लगी—मा के बाद

पुत्र की बारी थी। फिर तपेदिक। मेरा मस्तिष्क चकराने लगा। परन्तु मैंने निश्चय कर लिया कि अपनी बची-खुची सारी सम्पत्ति लुटा दूंगा। डाक्टर की सम्मति पर अक्षरशः चलूँगा। सावधानी में कोई कसर न उठा रक्खूँगा और इस तरह पुत्र को मृत्यु के पंजे से छुडा लूँगा। मैं बंशी और उसकी स्त्री को लेकर सोलन चला गया। परन्तु रोग कुछ कम न हुआ। डाक्टरों ने सम्मति दी कि उसे स्विटजरलैंड के सैनिटोरियम में ले जाओ वहाँ जाकर बच सकता है। मेरे पास पन्द्रह हजार के लगभग रुपया बच रहा था। यह रुपया मुझे बहुत प्यारा था परन्तु बंशीलाल इस रुपये से भी प्यारा था। मैंने उसे स्विटजरलैंड भेज दिया।

वह वहाँ दो वर्ष रहा। वहाँ उसका स्वास्थ्य बहुत कुछ अच्छा हो गया। यहाँ तक कि मेडिकल-बोर्ड ने फैसला दे दिया कि उसे अब कोई बीमारी नहीं है। इस सूचना से मेरे आनन्द का पारावार न रहा। सारा दिन नाचता फिरता था। बंशीलाल ने अपना फोटो भी भेजा था। उससे दीख पड़ता था कि पहले की अपेक्षा उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। चेहरा भी भर गया था। अब मैं उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा कि वह कब वापस आये और मैं उसे पितृ-स्नेह से गले लगाऊँ। परन्तु जब वह दिन आया तब मेरी आशाओं पर ओस पड गई। बशीलाल हिन्दुस्तान आ गया, परन्तु अपना स्वास्थ्य वहीं छोड़ आया। यदि मेरे पास और रुपया होता तो मैं रुपये का मुँह न देखता। परन्तु मेरी अवस्था दिन पर दिन गिर रही थी। मैंने अपनी ओर से पूरा पूरा यत्न किया कि कहीं से रुपया मिल जाय तो बंशी को फिर स्विटजरलैंड भेज दूँ परन्तु सफलता न हुई। बंशीलाल स्विटजरलैंड न जा सका।

(६)

छः महीने बीत गये।

प्रातःकाल था। मैं बंशीलाल के पास बैठा उसके मुँह की तरफ देख रहा था। आज उसकी अवस्था बहुत बिगड़ रही थी। न मुँह पर लाली थी न आंखों में चमक। उनके स्थान पर लाश की सी जरदी

छा गई थी। मैं यह देखता था और रोता था। उस समय मेरा सारा जीवन मेरी आँखो के सामने था। वे दिन याद आ गये जब मैंने मिठाई का खोमचा छोडकर व्यापार आरम्भ किया था। पास धन न था परन्तु हृदय में शांति का वास था। अब वे दिन कहाँ थे ? मैंने जेब में हाथ डालकर देखा, तो उस समय मेरे पास केवल डेढ सौ रुपये थे। मैं चौंक पड़ा। भूली हुई घटनायें आँखों-तले फिर गईं। इतने ही रुपयो से मैंने व्यापार आरम्भ किया था। उस समय न स्त्री थी, न पुत्र। क्या परमात्मा मुझे आज उसी स्थान पर फेंकने का प्रबन्ध कर रहा है। स्त्री पहले जा चुकी थी, बेटा अब जा रहा था।

एकाएक बंशीलाल ने जोर से अँगडाई ली, और चारपाई पर तडपने लगा। मैंने हृदय को अन्तिम चोट के लिए तैयार किया, और उठकर मरनेवाले के ऊपर झुक गया। वह जान तोड रहा था। मैंने भर्राई हुई आवाज से कहा, "बशी।"

बंशी ने बेहोशी में उत्तर दिया,—"हाँ।"

"होश में आओ बेटा!"

"हाँ होश में हूँ।"

मगर मैं जानता था, कि वह होश में नहीं है। मैंने पूछा—

"मैं कौन हूँ।"

बशीलाल ने मेरी तरफ अच्छी तरह देखा और तब कहा,—"तुम मेरे भाईवाल हो।"

यदि मेरे गले में साँप लिपट जाता तो भी मुझे ऐसा आश्चर्य न होता जैसा इस उत्तर से हुआ। हृदय पर घोर आतङ्क सा छा गया, जैसे किसी ने फाँसी के तख्ते पर चढा दिया हो। परन्तु मुझे फिर विचार आया, बशी बेसुध है, यो ही बड़बड़ा रहा है, इसलिए मैंने पूछा—

"बंशी।"

"हाँ"

अब स्वर अधिक स्पष्ट था।

"यह कौन है?"

इशारा उसकी स्त्री की तरफ था।

बंशी ने अपनी पथराई हुई आँखें अपनी स्त्री की तरफ उठाई और कहा—"डाक्टर।"

"तुम कौन हो?"

"प्रभुदास।"

सन्देह निश्चय बन गया। मैं खड़ा न रह सका। मेरे शरीर की शक्ति पृथ्वी ने खींच ली। पाप का परिणाम ऐसा दुःखदायक होगा यह आशा न थी। मेरा किया कराया सामने आ गया।

मैंने पुनर्जन्म की कथायें सुनी थी, परन्तु उनपर विश्वास न आता था। इस समय प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया।

बंशी मर गया। मेरी आँखो में आँसू न थे। उन्हें पापो की अग्नि ने सुखा दिया था। मैंने उसका दाह-सस्कार किया और जेहलम से निकल आया। उसके बाद मैंने आज तक वहाँ पाँव नहीं रक्खा।

अब मैं हर रोज अपने शरीर को कष्ट देता हूँ, कोड़े मारता हूँ, और हर एक मनुष्य को यह कहानी सुनाता हूँ, और फिर लोगों के सामने सिर झुकाकर प्रार्थना करता हूँ कि मेरे सिर पर पाँच पाँच जूते लगा दो। शायद इसीसे मेरा पाप धुल जाय।

यह कहते कहते साधु ने अपना सिर नीचे झुका दिया।

अलबम

(१)

पंडित शादीराम ने ठंडी आह भरी, और सोचने लगे—क्या यह ऋण कभी सिर से न उतरेगा?

वह गरीब थे, परन्तु दिल के बुरे न थे। वह चाहते थे कि चाहे जिस तरह भी हो, अपने यमराज—लाला सदानंद—का रुपया अदा कर दें उनके लिए एक-एक पैसा मोहर के बराबर था। अपना पेट काटकर बचाते थे, मगर जब चार पैसे इकट्ठे हो जाते, तो कोई ऐसा खर्च निकल आता कि सारा रुपया उड़ जाता। शादीराम के हृदय पर बर्छियाँ चल जाती थीं। उनका वही हाल होता था, जो उस डूबते हुए आदमी का होता है, जो हाथ-पांव मारकर किनारे पहुँचे, और किनारा टूट जाये, और वह फिर पानी में गोते खाने लगे। उस समय उसकी दशा कैसी करुणा-जनक, कैसी हृदय-बेधक होती है? वह प्रारब्ध को गालियाँ देने लगता है। वह अपने आपको कोसने बैठ जाता है। यही दशा शादीराम की थी।

इसी तरह कई साल बीत गये, शादीराम ने पैसा-पैसा बचाकर अस्सी रुपये जोड़ लिये। उन्हें लाला सदानंद के पाँच सौ रुपये देने थे। इस अस्सी रुपये की रकम से ऋण उतरने का समय निकट आता प्रतीत हुआ। आशा धोखे दे रही थी। एकाएक उनका छोटा लड़का बीमार हुआ, और लगातार चार महीने बीमार रहकर मरते मरते बचा। पैसा-पैसा करके बचाये हुए रुपये दवा-दारू में उड़ गये। पंडित शादीराम ने सिर पीट लिया। अब चारों ओर फिर अन्धकार था! उसमें प्रकाश की हलकी-सी किरण भी दिखाई न देती थी। उन्होंने ठंडी साँस भरी, और सोचने लगे—क्या यह ऋण कभी सिर से न उतरेगा?

लाला सदानंद अपने पुरोहित की बेबसी को जानते थे, और न

चाहते थे कि वह रुपये देने का प्रयत्न करें। उन्हें इस रकम की रत्ती-भर भी परवा न थी। उन्होंने इसके लिए कभी तगादा तक नहीं किया, न कभी शादीराम से इस विषय की बात छेडी। इस बात से वह इतना डरते थे, मानों रुपये स्वयं उन्हीं को देने हों। मगर शादीराम के दिल में शान्ति न थी। प्रायः सोचा करते थे कि यह कैसे भलेमानस हैं, जो अपनी रकम के बारे में मुझसे बात तक नहीं करते? खैर, यह कुछ नहीं करते, सो ठीक है, परंतु इसका तात्पर्य यह थोड़े ही है कि मैं भी निश्चित हो जाऊँ। मेरी तरफ रुपया निकलता है, मुझे देना चाहिए।

उन्हें लाला सदानंद के सामने सिर उठाने का साहस न था। उसे ऋण के बोझ ने नीचे झुका दिया था। यदि लाला सदानंद ऐसी सज्जनता न दिखलाते, और शादीराम को बार-बार तगादा करके तंग करते, तो उन्हें ऐसा मानसिक कष्ट न होता। हम अत्याचार का सामना सिर उठाकर कर सकते हैं, परन्तु भलमनसी के सामने आँखें नहीं उठतीं। बन्दी बलवान होकर भी बलवान नहीं है।

एक दिन लाला सदानन्द किसी काम से पंडित शादीराम के घर गये और उनकी आल्मारी में कई सौ बँगला, हिन्दी, अँगरेजी, आदि भाषाओं की मासिक पत्रिकायें देखकर बोले—"यह क्या है पंडितजी?"

पंडित शादीराम ने पैर के अँगूठे से जमीन कुरेदते हुए उत्तर दिया—"पुरानी पत्रिकायें हैं। बड़े भाई को पढ़ने का बड़ा चाव था, वह प्रायः मँगवाते रहते थे। जब जीते थे, तो किसी को हाथ न लगाने देते थे। अब इन्हें कीड़े खा रहे हैं। कोई पूछता भी नहीं।"

"रद्दी में क्यों नहीं बेच देते?"

"इनमें चित्र हैं। जब कभी बच्चे रोने लगते हैं, तो एक-आध निकालकर दे देता हूँ। इससे उनके आँसू थम जाते हैं। इसलिए रद्दी में नहीं बेचता।"

लाला सदानंद ने आगे बढ़कर कहा—"दो-चार परचे दिखाओ तो जरा, देखें, कैसे चित्र हैं?"

पंडित शादीराम ने कुछ परचे दिखाये। हर-एक परचे में कई-कई सुन्दर और रंगीन चित्र थे। लाला सदानंद कुछ देर तक उलट-पुलट कर देखते रहे। सहसा उनके हृदय में एक विचित्र विचार उठा। चौंककर बोले—"पंडितजी!" पंडितजी ने उनकी तरफ देखा, और मुस्कराकर बोले—"कहिए, क्या बात है?"

"ये चित्र कला-सौन्दर्य के अति उत्तम नमूने हैं। अगर किसी शौकीन को पसन्द आ जायँ, तो हजार दो हजार रुपये बड़ी आसानी से कमा सकते हो।"

पण्डित शादीराम ने एक ठण्डी साँस लेकर कहा—

"ऐसे भाग्य होते, तो यों धक्के न खाता फिरता।"

लाला सदानन्द बोले—"एक काम करो।"

"क्या?"

"आज बैठकर इन पत्रिकाओं में जितनी अच्छी अच्छी तसवीरें हैं, सबको छाँटकर अलग कर लो।"

"बहुत अच्छा।"

"जब यह कर चुको, तो मुझे पता देना।"

"आप क्या करेंगे?"

"मैं इनका अलबम बनाऊँगा, और तुम्हारी तरफ से विज्ञापन दे दूंगा। हो सकता है, यह विज्ञापन किसी शौक़ीन के हाथ पड जाय, और तुम चार पैसे कमा लो। तसवीरें बहुत बढिया है।"

(२)

पण्डित शादीराम को यह आशा न थी कि कोयलो में हीरा मिल जायगा। घोर निराशा ने आशा के द्वार चारो ओर से बन्दकर दिये थे। वह उन हत-भाग्य मनुष्यो में से थे जो संसार में असफल और केवल असफल रहने के लिए पैदा होते हैं। सोने को हाथ लगाते थे, तो वह भी मिट्टी हो जाता था। सीधी बात भी करते, तो उलटी पड़ती। उनकी ऐसी धारणा ही नहीं, पक्का विश्वास था कि यह प्रयत्न भी कभी सफल न

होगा। परन्तु लाला सदानन्द के आग्रह से दिन भर बैठकर तसवीरें छाँटते रहे। न मन में लगन थी, न हृदय में चाव था, न सीने में उमंग थी। परन्तु लाला सदानन्द की बात को टाल न सके। शाम को देखा, दो सौ एक-से-एक बढ़िया चित्र जमा हो गये हैं। उस समय वह उन्हें देखकर स्वयं उछल पड़े। उनके मुख पर आनन्द की आभा नाचने लगी। जैसे फेल हो जाने का विश्वास करके, अपनी प्रारब्ध पर रो चुके विद्यार्थी को पास हो जाने का तार मिल गया हो। उस समय वह कैसा प्रसन्न होता है? चारों ओर कैसा विस्मित और प्रफुल्लित दृष्टि से देखता है? यही हाल पण्डित शादीराम का था। वह उन चित्रों की ओर इस तरह देखते थे, मानों उनमें से हर-एक दस-दस रुपये का नोट हो। बच्चों को उधर देखने न देते थे। वह सफलता के विचार से ही प्रसन्न हो रहे थे यद्यपि वह अभी कोसों दूर थी। लाला सदानन्द की आशा उनके मस्तिष्क में निश्चय का रूप धारण कर चुकी थी। वे खुशी से झूमने लगे।

लाला सदानन्द ने चित्रों को अलबम में लगवाया और कुछ उच्च कोटि के समाचार पत्रों में विज्ञापन दे दिया। अब पण्डित शादीराम हर समय डाकिये की प्रतीक्षा करते रहते थे। रोज सोचते कि आज कोई चिट्ठी आयेगी। दिन बीत जाता, और कोई चिट्ठी न आती थी। रात को आशा सड़क की धूल की तरह बैठ जाती थी। मगर दूसरे दिन लाला सदानन्द की बातो से टूटी हुई आशा फिर बँध जाती थी, जिस तरह गाड़ियाँ चलने से पहले दिन की बैठी हुई धूल हवा में उड़ने लगती है। आशा फिर अपना चमकता हुआ मुँह दिखाकर दरवाजे पर खड़ा कर देती थी। डाक का समय होता, तो बाजार में ले जाती और वहाँ से डाकखाने पहुँचाती थी। इसी तरह एक महीना बीत गया, मगर कोई पत्र न आया। पण्डित शादीराम बिलकुल निराश हो गये। मगर फिर भी कभी-कभी सफलता का विचार आ जाता था। अँधेरे में जुगनू चमक जाता है। यह जुगनू की चमक निराश हृदयों के लिए कैसी जीवनदायिनी, कैसी हृदयहारिणी होती है! इसके सहारे भूले हुए मुसाफिर

मजिल पर पहुँचने का प्रयत्न करते और कुछ देर के लिए अपना दु:ख भूल जाते हैं। इस झूठी आशा के अन्दर सच्चा प्रकाश नहीं होता मगर यह दूर के सगीत के समान मनोहर जरूर होती है। इसमें वर्षा की नमी हो या न हो, परन्तु इससे काली घटा का जादू कौन छीन सकता है? पण्डित शादीराम ने आशा न छोडी या यो कहिए, आशा ने पण्डित शादीराम को न छोडा। दिन गुजरते गये।

आखिर एक दिन शादीराम के भाग्य जागे। कलकत्ते के एक मारवाड़ी सेठ ने पत्र लिखा कि अलबम भेज दो। अगर पसन्द आ गया तो खरीद लिया जायगा। मूल्य की कोई चिन्ता नही, चीज अच्छी होनी चाहिए। यह पत्र उस करवट के समान था, जो सोया हुआ आदमी जागने से पहले बदलता है और उसके बाद उठकर बिस्तरे पर बैठ जाता है। यह किसी आदमी की करवट न थी, किसी स्त्री की करवट न थी, यह भाग्य की करवट थी। पण्डित शादीराम दौडे हुए लाला सदानन्द के पास पहुँचे, और उन्हें पत्र दिखाकर बोले—"आखिर आज पत्र आ गया है, भेज दूँ अलबम?"

लाला सदानन्द ने पत्र को अच्छी तरह देखा, और जवाब दिया—"रजिस्टर्ड कराकर भेज दो। शौकीन आदमी मालूम होता है, खरीद लेगा।"

"और मूल्य?"

"लिख दो, एक हजार रुपये से कम पर सौदा न होगा।"

कुछ दिन बाद उन्हें जवाब में एक बीमा मिला। पण्डित शादीराम के हाथ-पैर काँपने लगे। मगर हाथ पैरों से ज्यादा उनका दिल काँप रहा था। उन्होंने जल्दी से लिफाफा खोला, और उछल पडे। उसमें सौ-सौ रुपये के दस नोट थे। पहले उनके भाग्य ने करवट बदली थी, अब वह पूर्णरूप से उठकर बैठ गई। पण्डित शादीराम बैठे थे, खडे हो गये। और सोचने लगे—अगर दो हजार रुपये लिख देता, तो शायद उतने ही मिल जाते। इस ख्याल ने उनकी सारी खुशी किरकिरी कर दी। हलवा मीठा था, स्वादु भी था, मगर उसमें एक कंकड़ निकल आया। मजा आधा रह गया।

(३)

सायंकाल को वह लाला सदानन्द के पास गये, और पाँच सौ रुपये के नोट सामने रखकर बोले-"परमात्मा का धन्यवाद है कि मुझे इस भार से छुटकारा मिला। अपने रुपये सँभाल लीजिए। आपने जो दया और सज्जनता दिखलाई है, उसे मैं मरण-पर्यन्त न भूलूँगा।"

लाला सदानन्द ने हैरान-सा होकर पूछा-"पण्डितजी! क्या सेठ ने अलबम खरीद लिया?"

"जी हाँ खरीद लिया।"

"और रुपये भी आ गये?"

"जी हाँ रुपये भी आ गये।"

"एक हजार?"

"जी हाँ। नहीं तो मुझ गरीब ब्राह्मण के पास क्या था, जो आपका ऋण चुका देता, परमात्मा ने मेरी सुन ली।"

"मैं पहले भी कहना चाहता था; परन्तु कहते हुए हिचकिचाता था कि आपके हृदय को कहीं ठेस न पहुँचे। पर अब मुझे यह भय नहीं है; क्योंकि रुपये आपके हाथ में हैं। मेरा विचार है कि आप ये रुपये अपने ही पास रक्खें। मैं आपका यजमान हूँ। मेरा धर्म है कि आपकी सेवा करूँ। अगर मैंने चार पैसे दे दिये, तो कौन-सा गजब हो गया।"

पण्डित की आँखों में आँसू आ गये, दुपट्टे से पोंछते हुए बोले- "आप-जैसे सज्जन संसार में बहुत थोड़े हैं। परमात्मा आपको चिरञ्जीवि रक्खें, मगर अब तो मैं ये रुपये न लूँगा। इतने वर्ष आपने माँगे तक नहीं, यह उपकार कोई थोड़ा नहीं है। मुझे इससे उऋण होने दीजिए। ये पाँच सौ रुपये देकर मैं हृदय की शान्ति खरीद लूँगा।"

गरीब ब्राह्मण की यह उदारता और सच्चरित्रता देखकर सदानन्द का मनमयूर नाचने लगा। उन्होंने नोट ले लिये। मनुष्य रुपये देकर भी ऐसा प्रसन्न हो सकता है, इसका अनुभव उन्हें पहली ही बार हुआ। पण्डितजी के चले जाने पर उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं और किसी

विचार में मग्न हो गये। इस समय उनके मुख-मण्डल पर एक खास आत्मिक तेज था, जो इस ससार में कभी कभी दिखाई देता है।

(४)

छः मास बीत गये।

लाला सदानन्द बीमार थे। ऐसे बीमार वह सारी उमर में न हुए थे। पण्डित शादीराम उनके लिए दिन-रात माला फेरा करते थे। वह वैद्य न थे, डाक्टर न थे, हकीम न थे, वह ब्राह्मण थे, उनकी ओषधि माला फेरना ही थी, और वह काम वह अपनी आत्मा की पूरी शक्ति अपने मन की पूरी श्रद्धा से करते थे। उन्हें ओषधि की अपेक्षा आशीर्वाद और प्रार्थना पर अधिक भरोसा था। सोचते थे, दवा से दुआ अच्छी है।

एक दिन लाला सदानन्द चारपाई पर लेटे थे। उनके पास उनकी बूढ़ी माँ दुर्बल और पीले मुख को देख-देखकर अपनी आँखो के आँसू अन्दर ही अन्दर पी रही थी। थोडी दूर पर, एक कोने में उनकी नवोढ़ा स्त्री घूँघट निकाले खडी थी, और देख रही थी कि कोई काम ऐसा तो नहीं, जो रह गया हो। पास पड़ी हुई एक चौकी पर पण्डित शादीराम बैठे रोगी को भगवद्गीता सुना रहे थे।

एकाएक लाला सदानन्द बेसुध हो गये।

पण्डितजी ने गीता छोड दी, और उठकर उनके सिरहाने बैठ गये। स्त्री गर्म दूध लेने के लिए बाहर दौडी, और माँ अपने बेटे को घबराकर आवाजें देने लगी। इस समय पण्डितजी को रोगी के सिरहाने के नीचे कोई कड़ी-सी चीज चुभती हुई जान पडी। उन्होने नीचे हाथ डालकर देखा, तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही! यह सख्त चीज वही अलबम था जिसे किसी सेठ ने नही, बल्कि स्वयं लाला सदानन्द ने खरीद लिया था। मगर शादीराम को बताया न था। न उन्हें सन्देह होने दिया था।

पण्डित शादीराम इस विचार से बहुत प्रसन्न थे कि उन्होने सदानन्द का ऋण उतार दिया है। मगर यह जानकर उनके हृदय पर चोट-सी

लगी कि ऋण उतरा नहीं; बल्कि पहले से दूना हो गया है। पहले पाँच-सौ था, अब एक हजार हो गया है।

उन्होंने अपने बेसुध यजमान के पास बैठे-बैठे एक ठंडी साँस भरी, और सोचने लगे—"क्या यह ऋण कभी न उतरेगा?"

कुछ देर के बाद लाला सदानन्द को होश आया। उन्होंने पण्डितजी से अलबम छीन लिया, और धीरे से कहा—"यह अलबम सेठ साहब से अब मैंने मंगवा लिया है।"

पण्डितजी जानते थे कि यजमानजी झूठ बोल रहे हैं। परन्तु वह उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक सज्जन, अधिक उपकारी और अधिक ऊँचा समझने लगे थे। वह यह न कह सके कि आप झूठ बोल रहे हैं। उनमें यह हिम्मत ही न थी। वे चुपचाप माला फेरने लगे।

कवि की स्त्री

(१)

सत्यवान

बचपन में मैं और मणिराम साथ ही साथ पढ़े थे। उस समय हम एक दूसरे पर जान देते थे। बचपन के दिन थे, जबतक एक दूसरे को देख न लेते शान्ति न मिलती। उस समय हमें बुद्धि न थी। बाद में प्रेम का स्थान वैर ने ले लिया, दोनो एक दूसरे के लहू के प्यासे हो गये। तब हम शिक्षित हो चुके थे। एफ० ए० की परीक्षा पास करने के बाद हमारे रास्ते अलग अलग हो गये । मणिराम मेडिकल–कालेज में भर्ती हो गया। मैंने साहित्य-ससार में पांव रक्खा। मुझे रुपये-पैसे की परवा न थी, पूर्वजो की सम्पत्ति ने इस तरफ से निश्चिंत कर दिया था। दिन-रात कविता के रस में लवलीन रहता और कई कई दिन घर से बाहर न निकलता। इन दिनों मेरे सिर पर यही धुन सवार रहती थी। एक एक पद पर घण्टों खर्च हो जाते थे। अपनी रचना को देखकर मैं गर्व से झूमने लग जाता था। कभी-कभी मुझे अपनी कविता में तुलसीदास की उपमा और सूरदास के रूपको का मजा आता था। परन्तु जब मेरी कवितायें पत्रों में निकलने लगीं, तो मेरा कवित्व का मद उतरने लगा। मद उतर गया, परन्तु उसका प्रभाव न गया । यह प्रभाव प्रख्याति, कीर्ति और यश का प्रभाव था। थोड़े ही दिनो में मेरा नाम हिन्दी संसार में प्रसिद्ध हो गया। मैं अब कुछ काम न करता था । केवल बड़े-बडे लोगों को पार्टियाँ दिया करता था। अब इसके बिना मुझे चैन न आता था। अब कविता में भी उतना मन न लगता था। पहले मेरा सारा समय इसी की भेंट होता था, अब वह जी बहलाने की चीज़ हो गई थी। परन्तु जब कभी कुछ लिखता तो रङ्ग बाँध देता था। साधारण विषय को भी लेता तो उसमें जान डाल देता था। लोग पढते तो उछल-उछल पड़ते।

उधर मणिराम चिकित्सा के ग्रन्थों के साथ सिर फोडता रहा। पाँच वर्ष बाद एसिस्टेंट सर्जरी की परीक्षा पास करके उसने अपनी दूकान खोल ली। परीक्षा का परिणाम निकलने के समय उसका नाम एक बार समाचार-पत्र में प्रकाशित हुआ। इसके बाद फिर कभी उसका नाम पत्रो में नहीं छपा। इधर मेरी प्रशंसा में आये दिन समाचार-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते थे। वह दूकान पर सारा दिन बैठा रोगियों की बाट देखता रहता था, परन्तु उसका नाम कौन जानता था? लोग उधर जाते हुए झिझकते थे। मैं उसकी तरफ देखता, तो घृणा से मुँह फेर लेता, जिस तरह मोटर में चढ़ा हुआ आदमी पैदल जानेवालो को घृणा से देखते हैं। कभी हम एक साथ पढते थे, एक साथ लिखते थे। आज हमारी दुनियाएँ ही बदल गई थीं। आज हमारे रास्ते ही अलग अलग हो गये थे। मैं मशहूर था, उसे कोई पूछता भी न था।

(२)

एक दिन पत्र आया। उसमें मेरी कविता और कला की बहुत ही प्रशंसा की गई थी और मुझे देश और जाति के लिए सम्मान और गौरव की चीज बताया गया था। मेरे पास ऐसे पत्र प्रायः आते रहते थे, यह कोई नई बात न थी। मैं कभी-कभी तो ऐसे पत्रों को देखकर झुँझला उठता था। मगर यह पत्र एक स्त्री की तरफ से था। हम पुरुषो की ओर से उपेक्षा कर सकते हैं, परन्तु किसी कोमलाङ्गी के साथ यह व्यवहार करने को जी नहीं चाहता। और यह पत्र किसी साधारण स्त्री की तरफ से नहीं था। इसकी लेखिका देहरादून के प्रसिद्ध रईस ठाकुर हृदयनारायण की शिक्षित लड़की सावित्री थी जिसने इसी वर्ष बी० ए० की परीक्षा पास की थी। उसके सम्बन्ध में समाचार पत्रों में कई लेख निकले थे, परन्तु मैंने उन्हें पढने की जरूरत न समझी थी। इस पत्र ने सब कुछ याद करा दिया। मैंने उसी समय लेखनी पकड़ी, और जवाब लिखने बैठ गया। पर हाथ जवाब दे रहे थे। ऐसी लगन से कोई विद्यार्थी अपनी परीक्षा के पर्चे भी न लिखता होगा। एक-एक शब्द पर रुकता था

और नये-नये शब्द ढूंढकर नये-नये विचार लेखनी के अर्पण किया जाता था। मैंने सावित्री और उसकी विद्वत्ता की प्रशंसा में कोष के सम्पूर्ण सुन्दर शब्द समाप्त कर दिये। अपनी अयोग्यता को भी स्वीकार किया—आप मेरी प्रशसा करती है, यह आपका बड़प्पन है, अन्यथा मेरी कविता में घरा ही क्या है? न कल्पना में कला है, न मजमून में मिठास है, न भावो में भावुकता है। रस कविता का प्रधान अग है, वह मेरी कविता से कोसो दूर है। हम कवि बन बैठते है, परन्तु कवि बनना आसान नहीं। इसके लिए देखनेवाली आँख की और सुननेवाली कान की जरूरत है, इत्यादि। कहने की आवश्यकता न होगी कि अपनी प्रशंसा करने का यह भी एक ढङ्ग है। आदमी छोटा बनता है, ताकि दुनिया उसे बडा समझे।

कुछ दिन के पश्चात् इस पत्र का उत्तर आया—यह जो कुछ आपने लिखा है, आप जैसे महा-पुरुषो के योग्य ही है, परन्तु मैं तो आपको टेनिसन और वर्डस्वर्थ से बढकर समझती हूँ। आप कहते है कि आपकी कविता रस-हीन है, होगी। परन्तु मुझपर तो वह जादू कर देती है। घण्टो प्रेम-सागर में डुबकियाँ लगाती हूँ। खाना-पीना भूल जाता है। सोना हराम हो जाता है। जी चाहता है, आपकी लेखनी चूम लूँ।

यह पत्र शराब की दूसरी बोतल थी। और अन्तिम वाक्य ने तो हृदय में आग लगा दी। मैंने फिर उत्तर दिया, और पत्र में हृदय खोलकर रख दिया। कवि अपने चाहनेवालो को आकाश पर चढ़ा देता है। मैंने भी सावित्री की प्रशसा में आकाश पाताल एक कर दिया। लिखा—कारलाइल का कथन है कि कवि केवल वही नहीं जो कविता लिख सकता है बल्कि हर एक आदमी जो कविता समझ सकता है, और उससे मजा ले सकता है, और उसके मर्म तक पहुँच सकता है, कवि है। इस रूप में तुम भी कवि हो। मैंने अच्छो-अच्छों को देखा है, कविता के महत्व को नहीं समझ सकते। मगर तुम तो बाल की खाल निकालती हो। तुम्हारी योग्यता पर मुझे आश्चर्य होता ह। घन्य है मेरी भारतभूमि, जिसमें तुम जैसी देवियाँ खेलती है। तुम जैसी देवियाँ न हों तो हमारी

हिम्मत कौन बढ़ाए ? तुम जैसे जौहरी न हों, तो हमें मिट्टी से कौन उठाए ?

मैंने सैकड़ो उपन्यास पढ़े थे, अच्छी-से-अच्छी कविताएँ देखी थीं, परन्तु जो रस जो स्वाद सावित्री के पत्रो में था वह किसी में न था। यही जी चाहता कि उन्हीं को पढ़ता रहूँ, और उनका जबाब देता रहूँ।

(३)

सावित्री

निस्सन्देह वे मुझे चाहते हैं, वर्ना इस तरह तुरन्त ही उत्तर-प्रत्युत्तर न देते। आज पत्र लिखती हूँ, तीसरे दिन उत्तर आ जाता है। ऐसा मालूम होता है, मानों मेरे पत्र की राह देख रहे थे। उनके पत्र उनकी कविता से अधिक सरस हैं, पढकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। और कभी कभी तो ऐसी चुटकी लेते हैं कि मन अधीर हो उठता है। मैंने चित्र माँग भेजा था। उत्तर देते हैं—तुमने लिखा है कि चित्र भेज रही हूँ, मगर मुझे तो आज तक नहीं मिला। रजिस्ट्री की रसीद हो, तो भेज दो डाकखाने पर नालिश कर दूँ। मजबूरन मुझे अपना चित्र भेजना पड़ा। उत्तर में उनका चित्र आ गया। मेरा विचार सच्चा निकला। कैसे सुन्दर-मुख पर राजकुमारों जैसा लावण्य झलकता है। मेरे हृदय को पहले ही चैन न था, चित्र ने रहा सहा चैन भी छीन लिया। अब दिन को चैन नहीं आता, रात को नींद नहीं आती। उनकी अन्तिम कविता ने उनका हृदय मुझपर खोल दिया है। 'प्रीतम-से' कैसा प्यारा शीर्षक है! एक-एक अक्षर से प्रेम टपकता है। इससे पहली कविता 'पाती निहारकर' भी मुझी पर लिखी गई थी। लिखती हूँ, तुम मुझे बदनाम करके छोड़ोगे। यह तो कहो, तुम मेरे पीछे पल्ले झाड़कर क्यों पड़ गये हो ? एक और कविता 'एकान्त में' प्रकाशित हुई है। इससे जान पड़ता है, अभी तक कुँवारे हैं। तो मेरी ... परन्तु वे इतना परिश्रम क्यो करते हैं ? बहुत पढ़ना-लिखना आदमी को बाँस की तरह खोखला कर देता है। लिखती हूँ, कविता लिखना बन्द कर दो और शरीर की तरफ ध्यान दो, मुझे बड़ी चिन्ता रहती है। इसके बाद मैंने

उनके सम्बन्ध में सब कुछ मालूम कर लिया। वे हमारी ही बिरादरी के हैं और कुँवारे हैं, और उनकी शराफत की लोग सौगन्ध खाते हैं।

मैंने पत्र लिखा। पहले पत्रो और इस पत्र में बहुत भेद था। इसमें कोई 'सङ्कोच', कोई 'बनावट' न थी–"तुम्हारे पत्रो से सन्तोष नही होता। जी चाहता है, तुम्हारे दर्शन हो, तो गिरकर तुम्हारे पैरों को चूँम लूँ। अब और न तरसाओ। हर समय सामने देखना चाहती हूँ। प्रायः सोते-सोते चौक पड़ती हूँ। सोचती हूँ तुम्हारे खाने-पीने का क्या प्रबन्ध होता होगा? रात को अधिक समय तक लिखते पढते तो नही रहते, इससे कविता कमजोर हो जाती है। ज्यादा देर जागते तो नहीं रहते, इससे स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इसका पूरा-पूरा ध्यान रक्खो। मुझे पत्र लिखना न भूलो। मेरा जी डर जाता है। मुझे अपने चरणो की दासी समझो।"

चौथे दिन उत्तर आया तो मैं जमीन से उछल पड़ी। वे मेरे साथ ब्याह करने को सहमत ही नहीं, बल्कि अधीर हो रहे थे। मैंने आँखें बन्द कर लीं, और आनेवाले काल्पनिक सहवास का चिन्तन करके आनन्द के झूले में झूलने लगी। इतने में किसी के पैरों की चाप सुनाई दी, मेरी आँखें खुल गईं। देखा भाई प्रभाशङ्कर चित्रो का एक बण्डल लिये खड़ा है। मैंने आश्चर्य से पूछा–"प्रभा? यह क्या है?"

"बाबूजी कहते हैं, ये चित्र देखकर इनमें से एक छांट दो। हर एक चित्र के साथ साथ एक पत्र है, उसे भी पढ जाना और अपना फैसला जल्द देना।"

यह कहते-कहते प्रभा ने वह बण्डल मेरे हाथ में दे दिया, और आप तेजी से बाहर निकल गया।

मैंने बण्डल खोला। इसमें उन नौजवानो के फोटो थे जो मेरे साथ ब्याह करना चाहते थे। मैंने मुस्कराते-मुस्कराते सबपर एक उचटती हुई दृष्टि डाली। कोई बैरिस्टर था, कोई डाक्टर था, कोई इन्जीनियर, कोई ठेकेदार। मगर मुझे कोई भी पसन्द न आया। मेरे अतःकरण में एक ही मूर्ति के लिए स्थान था, और वहाँ पहले ही से एक मूर्ति

विराजमान थी। मैंने फुर्ती से उठकर अपना सन्दूक खोला, और उसमें से उनका फोटो निकालकर उसपर passed शब्द लिखकर उसे बाबूजी के पास भेज दिया। वे दङ्ग रह गये। उन्हें यह आशा न थी। वे समझते थे, मैं किसी लखपति का बेटा पसन्द करूँगी, परन्तु मैंने एक कवि को चुना। वे गरीब न थे, पर इतने अमीर भी न थे। मेरे चाहनेवालों में कई पुरुष ऐसे थे, जो उनको खरीद सकने की ताकत रखते थे। परन्तु प्रेम को अन्धा कहा गया है, उसे देखना किसने सिखाया है? बाबूजी मेरी इच्छा के अनुसार सहमत हो गये। उन्होंने मुझे बड़े लाड़-प्यार से पाला था। मेरी शिक्षा पर सहस्रों रुपये खर्च किये थे। इस विषय में भी उन्होंने मुझे पूरी स्वतन्त्रता दे रक्खी थी। वे मेरी मरज़ी के विरुद्ध न जा सके। उन्होंने मेरी बात मान ली।

(४)

आखिर जिस बात का भय था, अन्त में वही हुआ। उन्हें बुखार आने लगा है। कुछ दिन हुए, उनके एक मित्र मिलने आये थे। वे कहते हैं कि डाक्टरों को तपेदिक का सन्देह है। यह बात सुनकर बाबूजी बड़े व्याकुल हैं। सदा उदास रहते हैं, जैसे रोग लग गया हो। उनकी इच्छा है कि मैं विवाह का विचार छोड़ दूँ। जलती आग में कूदना बुद्धिमत्ता नहीं। परन्तु मैं इसकी परवा नहीं करती। संसार की आँखों में हम कुँवारे है, पर जब मन मिल गये प्रेम की डोरी बँध गई तो बाकी क्या रह गया? अब मैं उनकी हूँ, वे मेरे हैं, और कोई रोग, कोई भय, कोई विचार मुझे उनसे अलग नहीं रख सकता यहाँ तक कि मौत में भी यह हिम्मत नहीं। सावित्री ने सत्यवान् को यमदूत के पञ्जे से छुड़ा लिया था, क्या मैं उन्हें रोग के मुख से न बचा सकूँगी? मैं भी सावित्री हूँ। उसी भारत की मिट्टी से मेरा जन्म हुआ है, मै उसके कारनामे को आज फिर जिन्दा कर दिखाऊँगी। लोग सुनेंगे हैरान होंगे, वाह-वाह करेंगे।

सायङ्काल हो गया, बाबूजी अपने कमरे में बैठे थे। मुझे चिन्ता हुई। यह समय उनके क्लब जाने का था। सर्दी-गर्मी में बराबर जाते थे। यह उनका नियम था, जिसमें कभी नागा न होता था। मैं उनके पास जाकर बैठ गई, और धीरे से बोली—"क्यो, आज आप क्लब नहीं गये? जी तो अच्छा है आपका?"

बाबूजी ने कोई उत्तर न दिया।

"आप उदास दिखाई देते है।"

बाबूजी ने कहा—"तुम्हें इससे क्या।"

"आपका स्वास्थ्य बिगड जायगा।"

"कोई परवा नही।"

"आपका खाना आधा भी नहीं रहा।"

मैं यह सब कुछ जानता हूँ।"

"किसी डाक्टर को दिखाइए, रोग का बढना अच्छा नहीं। इसे शुरू ही में काबू कर लेना चाहिए।"

"अब मेरा डाक्टर यमराज ही होगा।"

"बात क्या है आखिर?"

"बात यह है, कि अब मेरा जी जीने को नहीं चाहता। जीकर क्या करूँगा।

मेरी आंखो में आंसू आ गये, सिर नीचे झुक गया। बाबूजी दूसरी ओर देख रहे थे, परन्तु मेरे आंसू उन्होने देख लिये। बात-चीत का रङ्ग बदल गया बोले—"सावित्री मैं तो अपने भाग्य को रो रहा हूँ, पर तुम्हें क्या हुआ है? तुम क्यो रोती हो?"

मैने उनकी ओर इस प्रकार देखा, जैसे उन्होने मुझपर कोई बड़ा अत्याचार किया हो, और कहा—"आप मेरे पिता है, क्या आप भी मेरे इन आंसुओ की बात नहीं समझते? आपकी हर एक बात छिपी कटार है, हर-एक वचन जहर में बुझा हुआ तीर। आपके यार दोस्त है, काम काज है, क्लब है। आप बाहर चले जाते है, मैं बैठी कर्मो को रोती

हूँ। मैं लड़की हूँ, लड़कियों के मुँह से ऐसी बात अच्छी नही लगती। मगर क्या करूँ? देखती हूँ, मेरे जीवन का सर्वस्व लुट रहा है। चुप कैसे रहूँ? आप देर करके मेरे भविष्य को अन्धकारमय बना रहे हैं।" समय गुजरता जाता है, भविष्य बिगड़ता जाता है और आशा कम होती जाती है।

बाबूजी ने आतुर होकर कहा–"परन्तु सावित्री! देखकर मक्खी निगलना आसान नही। क्या तुझे विश्वास है कि वह तेरी सेवा-शुश्रूषा से अच्छा हो जायगा।"

"हाँ, मुझे विश्वास है कि मै उन्हें बचा लूंगी। कवि बेपरवा होते है, प्रायः पढ़ने-लिखने में लगे रहते है। मै उन्हें जीवन के सारे झझटो से निश्चिन्त कर दूंगी और घर का सारा काम आप सँभाल लूंगी। दिन-रात कविता लिखने के कारण ही उनकी यह दशा हुई है। जिस पत्र को देखो उसी में उनकी कविता दिखाई देती है। मै उनको इस काम से रोक दूंगी। कहूँगी, पहले अपने स्वास्थ्य की तरफ तो देखो, पीछे कविता भी हो लेगी। नौकरों के हाथ की रोटियाँ खाते है, खाया-पिया क्या तन लगेगा? स्तुति करने को सभी है, सहानुभूति किसी में नाम को नहीं।"

बाबूजी पर मेरी इन बातो का बहुत ही प्रभाव हुआ। कुछ समय के लिए उनका मुंह बन्द हो गया। फिर बोले,–"यह सब ठीक है, परन्तु कहने और करने में बडा भेद है। मुझे सन्देह है कि जो कुछ तुम कह रही हो उसे कर भी सकोगी या नहीं। वे पूरे बेपरवा है, वे कभी परवा न करेंगे। तुम एक दिन समझाओगी, दो दिन समझाओगी, तीसरे दिन रो-धोकर बैठ जाओगी।

मेरा मुख लाल हो गया, जैसे भरे बाजार में सिर से दुपट्टा उतर गया हो, फिर भी सँभलकर बोली–"मै अपने वचनों की जिम्मेदारी से नावाकिफ़ नही। जो कुछ कहा है, करके दिखा दूंगी।"

"यह सब भावना की बातें है, जब समय आता है, तो धुएँ की नाईं उड़ जाती है।"

"मेरे विचार में ससार भावनाओ ही पर जीता है। भावना न हो तो संसार चार दिनो में समाप्त हो जाये।"

बाबूजी चुप हो गये, कोई उत्तर न सूझा। थोडी देर सिर झुकाकर सोचते रहे। फिर एकाएक उठे और मुझसे कुछ कहे सुने बिना बाहर चले गये।

(५)

ब्याह हो गया। वह बात झूठ निकली। उन्हें कोई रोग न था। यह सब किसी की शरारत थी। उनका स्वास्थ्य देखकर चित्त प्रफुल्लित हो जाता है। मुख पर लाली है, नेत्रो में ज्योति है, होठो पर मुस्कराहट है। मुझे देखते ही तो कली की न ई खिल जाते है। मैने कई कवियों के चरित्र पढ़े है, और एक दोष सबमें देखा है। वह यह है कि उनका आचरण कुछ इतना पवित्र नहीं होता। परन्तु उनके विषय में यह कल्पना करना भी पाप है। वह बहुत ही शरमीले है, किसी पराई स्त्री के सामने आँख नही उठाते। वह इसे भी सदाचार से गिरा हुआ समझते है। मेरी कोई सहेली आ जाती है, तो उठकर चले जाते है। मैं बहुतेरी समझाती हूँ, कहती हूँ, तुम मर्द हो, यदि स्त्री परदा नहीं करती तो, पुरुष क्यो करे। परन्तु वे हँसकर टाल देते है। मुझे उनपर पूरा-पूरा विश्वास है। मै समझती हूँ, सब कुछ हो सकता है, परन्तु उनके मन में मैल नहीं आ सकती। ऐसा पुरुष मिल जाना मेरा सौभाग्य है। उन्होने अपनेआपको मुझपर छोड दिया है। घर-बार का स्याह-सफेद सब मेरे ही हाथ में है। कपडे तक खुद नहीं बदलते। अगर मै न कहूँ, तो पूरा अठवाड़ा निकल जाता है और उन्हें ध्यान में भी नहीं आता कि कपड़े मैले हो गय है। उनके दूध का, फलो का, कमरे की सफाई का मुझे ही प्रबन्ध करना पडता है। सोचती हूँ, अगर मेरी जगह कोई दूसरी बे-परवा मनमानी करनेवाली स्त्री आ जाती, तो क्या होता। घर में धूल उडने लगती। फर्श पर कीडे रेंगने लगते। थोड़े ही दिनो में बीमार हो जाते। वे इतने बे-परवा है, कि उन्हें अपने दफ्तर की सफाई का भी ध्यान नहीं। उसका भी मुझे ही ध्यान रखना पडता है। नौकर सिर चढा रक्खे थे, पर अब

सँभल गये हैं। ये निगोड़े आपसे आप तो कोई काम करते ही नहीं। जबतक सिर पर न खड़े रहो तबतक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं। कभी-कभी मुझे उनपर क्रोध भी आ जाता है। वे क्यों दबदबे से काम नहीं लेते। मैं चार दिन के लिए बाहर चली जाऊँ, तो घर नरक का नमूना बन जाये। जाने पहले कैसे अपनी देखभाल करते थे।

एक दिन मैंने कहा—"सारे भारतवर्ष में तुम्हारी कविता की धाक बँधी हुई है, परन्तु क्या यह भी किसी को पता है कि तुम इतने बेपरवा ऐसे आलसी हो?"

उन्होंने हँसकर उत्तर दिया—"तुम एक लेख न लिख दो। सारी दुनिया जान जायगी।"

"बदनाम हो जाओगे।"

"उसमें से कुछ भाग तुम्हें भी तो मिलेगा।"

"मैं क्यों लेने लगूँगी। तुम हँसकर टाल देते हो। जरा सोचो तो सही, ऐसी बेपरवाई भी किस काम की?"

"मैंने तुम्हें घर की रानी बना दिया।"

मैंने धीरे से कहा—"घर की रानी तो मैं बनी, मगर तुम अपने दफ्तर की ओर तो ध्यान दिया करो।"

"मैं तुम्हें अपना सुपरिन्टेन्डेन्ट समझता हूँ।"

मैं उठकर चली गई। परन्तु हृदय आनन्द के हिलोरे ले रहा था, चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल पर नाच रहा था। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं उनके दफ्तर की तरफ गई, तो दरवाजे के साथ एक छोटा सा बोर्ड लटकता देखा। उस पर लिखा था—

"सावित्री देवी बी० ए० सुपरिन्टेन्डेन्ट"

मैंने उसे जल्दी से उतारकर उनके सामने जा फेंका, और कहा— "ये शरारतें देखकर लोग क्या कहेंगे?"

उन्होंने मेरी ओर देखा मुस्कराकर भुजायें फैला दीं। मैं स्वर्ग में पहुँच गई।

(६)

सन्ध्या का समय था। मैंने अपनी सबसे बढ़िया पोशाक पहनी और उनके पास जाकर कहा–"बाहर चलोगे, थोड़ा घूम आयें। आज घर में जी नहीं लगता।"

वे उस समय कविता में मग्न थे, धीरे से बोले,–"इस समय बात न करो। बड़ी अजीब बात सूझी है, उसको प्रकट करने के लिए ठीक शब्द ढूँढ रहा हूँ, पर शब्द मिलते नहीं।"

मुझे जहर-सा चढ़ गया। कैसे पुरुष हैं, सदा अपनी ही धुन में मग्न रहते हैं। इतना भी नहीं होता कि मेरी किसी समय तो मान लिया करें। पहले मुझे देखकर प्रसन्न हो जाते थे, परन्तु अब तो इनका हृदय प्रेम से शून्य हो गया है। हाँ, कविता में हृदय निकालकर रख देते हैं। मेरी आँखों से आग बरसने लगी, मुँह से बोली–"सदा कविता ही सूझती रहती है या किसी समय ससार का भी ध्यान आता है ? हर समय कविता हर समय कविता !"

"इस कविता से साहित्य ससार में शोर मच जायगा।"

"तुम्हें मेरा भी ध्यान है या नहीं ?"

"यह अपने दिल से पूछो।"

"मैं दिल से नहीं पूछती, स्वयं तुमसे पूछती हूँ। जरा आँखें उठाकर उत्तर दो।"

"यह कविता देखकर फडक उठोगी। ऐसी कविता मैंने आज तक नहीं लिखी। अजीब चीज है।"

मैंने हताश-सी होकर कहा–"मेरी बडी इच्छा थी कि आज थोडा घम आती इस कविता ने काम बिगाड़ दिया। जी चाहता है, कागज छीनकर दावात तोड दूँ।"

"दावात कागज की हानि साधारण बात है, परन्तु ये विचार फिर न मिलेंगे। आज अकेली चली जाओ।"

"मेरा मन नहीं मानता।"

उन्होंने हाथ से इशारा किया कि इस समय जाओ, फिर कागज पर झुक गये। मेरे हृदय में बर्छी-सी लगी। उन्हें कविता का ध्यान है, मेरा ध्यान नहीं। संसार में नाम चाहते हैं, परन्तु घर से प्रेम नहीं चाहते। यहाँ से चली तो हृदय पर बोझा सा पड़ा था। अकेली सैर को निकल गई, परन्तु चित्त उदास था, सैर में जी न लगा। हार कर एक पुल पर बैठ गई, और अपनी दशा पर रोने लगी। इन आँसुओ को देखकर पहले बाबूजी व्याकुल हो जाते थे। विवाह हुआ, तो मेरे सुख-दुःख का भार एक कवि को सौंपा गया। मेरे आँसुओ को देखकर वह व्याकुल होने लगा। परन्तु अब इन आँसुओ को देखनेवाला इनपर कलेजा मलनेवाला कोई भी न था। मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरी नाव नदी के धार में वेग से बही जाती है और उसपर कोई मल्लाह नहीं है। मै अपनी बेबसी पर कुढती थी। कभी-कभी आँख उठाकर देख भी लेती थी कि कदाचित् आ रहे हो। प्रेम जल्दी निराश नहीं होता। पर वे न आये।

मेरी आँख जल की ओर थी, यदि कोई शक्ति मंत्र बल से मुझे जल की लहर बना दे, तो गङ्गा की लहरो में खेलती फिरूँ। एकाएक आँखें झपक गई! निद्रादेवी ने इच्छा पूरी कर दी। मै गङ्गा में गिर गई। बहुतेरे हाथ पाँव मारे पर निकल न सकी। प्रवाह में बहने लगी। मौत सामने आकर खड़ी हो गई।

सुध आई, तो मै घर पर थी, वे सामने खड़े थे, कुर्सी पर एक डाक्टर बैठा था।

उन्होंने मुझे होश में देखकर कहा—"अच्छी बचीं! अब इनका धन्यवाद करो। ये मेरे मित्र डाक्टर मणिराम है। आज कल काशी में इनके नाम की पूजा होती है। यह नदी में न कूद पड़ते, तो तुम्हारा बचना असम्भव था।"

मै धीरे से उठकर बैठ गई। साड़ी को सिरपर खीच लिया और डाक्टरसाहब की तरफ देखा, मगर आँखें मिल न सकीं। मैने—"परमात्मा आपका भला करे" कहा और आँखें झुका लीं। परन्तु मेरे हृदय

में हलचल मची हुई थी। मै चाहती थी, ये उठकर चले जायँ। मेरा विचार था, इससे मेरा धीरज वापस आ जायगा। परन्तु जब वे चले गये तो जान पड़ा, मैं भूल पर थी। व्याकुलता बढ़ गई। पानी की सैर को गई थी, आग खरीद लाई। भगवान जाने कैसी पटे, कैसी न पटे। जी घबराने लगा।

(७)

मणिराम

रात हुई, परन्तु मेरी आँखों में नींद न थी। उसे सावित्री की आँखों ने चुरा लिया था। उनमें कैसा आकर्षण था, कैसी बेबसी! जैसे कोई कैदी लोहे के जँगले के अन्दर से दुनिया को देखता है और आह मारकर जमीन पर बैठ जाता है। उसकी आँखें बार-बार मेरी ओर उठती थीं, मगर वह इन्हें उठने न देती थी, जिस तरह मा अपने अबोध बालक को पराये खिलौने पकड़ते देखकर गोद में उठा लेती है। उस समय बालक किस तरह मचलता है! कैसा अधीर होता है! चाहता है, कि मा छोड़ दे, तो खिलौना लेकर भाग जाये। यही दशा सावित्री की थी। सत्यवान वहीं डटा रहा। अगर दो मिनट के लिए भी टल जाता तो जी भरकर देख लेता। कैसी सुन्दर है, बिलकुल चम्पा का फूल। देख-देखकर दिल नहीं भरता था। पर देखने की हिम्मत न थी।

दूसरे दिन दूकान को जा रहा था, तो उसे दरवाजे पर खड़ी पाया। उसने मेरी ओर प्यासे नयनों से देखा और मुस्करा दिया। इस मुस्कराहट में बिजली थी, मेरा धैर्य जलकर भस्म हो गया। दूकान पर जी न लगा, सारा दिन साँझ की प्रतीक्षा करता रहा। पल-पल गिनते दिन समाप्त हुआ मैं घर को वापस लौटा। पैर जमीन पर न पड़ते थे। इस समय मैं बहुत प्रसन्न था, सत्यवान के मकान के पास पहुँचा, तो पैर आप से आप रुक गये, आँखें दरवाजे पर जम गईं। सहसा वह अन्दर से निकली और दरवाजे के साथ लगकर खड़ी हो गई। उसने

मुँह से कुछ न कहा, परन्तु आँखो ने हृदय के पर्दे खोल दिये। इन आँखो में कैसा प्रेम था, कैसा कटाक्ष और उनके साथ स्त्रियो की स्वाभाविक लज्जा। चटनी में खटाई के साथ शक्कर मिली हुई थी। मैं मतवाला-सा हो गया और झूमता-झामता घर पहुँचा। आज मैंने शत्रु का दुर्ग जीत लिया था। आज मेरे नसीब जागे थे। आज मेरी दुनिया में प्रेम ने आँखें खोली थीं।

कई दिन बीत गये। नयनो का प्रेम दृढ़ होता गया। पर अब उसे देखकर जी न भरता था; ओस की बूँदो से किसी की प्यास कब बुझी है? तृष्णा अपने पैर आगे बढा रही थी। अन्तःकरण सावधान करता था, मानो भय के समय लाल झडी दिखाता था। परन्तु कामदेव उस ड्राइवर के समान परवा न करता था जिसने शराब पी ली हो। यह शराब साधारण शराब न थी। यह वह शराब थी जो धर्म-कर्म सब चूल्हे में झोक देती है और मनुष्य को बलात् भय के मुँह में डाल देती है। यह कामवासना की शराब थी। यह लालसा की शराब थी।

एक दिन बहुत रात गये घर लौटा। चित्त दुखी हो रहा था, जैसे कोई भारी हानि हो गई हो। परन्तु सावित्री दरवाजे पर ही खड़ी थी। मैं गद्‌गद् प्रसन्न हो गया। मेरा घाटा पूरा हो गया था। सारा क्रोध और दुःख दूर हो गया। सावित्री ने कहा,—"आज आपको बडी देर हो गई।"

परन्तु आवाज थरथरा रही थी।

मेरा कलेजा धड़कने लगा। शरीर पसीना पसीना हो गया। छात्रावस्था में हमने सैकड़ों मुर्दे चीरे थे। उस समय भी यह अवस्था कभी न हुई थी। एक एक अङ्ग काँपने लगा। मैंने बडी कठिनाई से अपने आपको सँभाला और उत्तर दिया—"जी हाँ, कुछ मरीज देखने चला गया था। आप दरवाजे पर खड़ी हैं, क्या किसी की प्रतीक्षा है?"

"हाँ, उनकी राह देख रही हूँ।"

"क्या आज कोई कवि सम्मेलन है?"

"कवि-सम्मेलन तो नहीं। एक जलसे में गये हैं, वहाँ उन्हें अपनी नवीन कविता पढ़ना है।"

"तो बारह बजे से पहले न लौटेंगे।"

सावित्री ने प्यासे नयनों से मेरी ओर देखा, और एक मधुर कटाक्ष से ठण्डी साँस भर कहा—"घर में जी नहीं लगता। बाहर आकर खडी हो गई।"

"अभी तो आठ ही बजे हैं।"

"जी चाहता है, घडी की सुइयाँ घुमा दूं।"

मेरे पैर न उठते थे। परन्तु कोई देख न ले, इस विचार से पैर उठाने पडे। हमें धर्म का विचार हो या न हो, मगर निन्दा का भय अवश्य होता है। सावित्री ने मेरी ओर ऐसी आँखो से देखा, मानो कह रही है, "क्या तुम अब भी नहीं समझते, मेरा क्या हाल है? जरा तो सोचो।"

मैं आगे बढा, परन्तु हृदय पीछे छूटा जाता था। वह मेरे बस में न था। घर जाकर चित्त उदास हो गया। सावित्री की मूर्ति आँखो में फिरने लगी। उसकी मधुर वाणी कानों में गूँजने लगी। मैं उसे भूल जाना चाहता था। मुझे डर था कि इस कूचे में पैर रखकर मैं बदनाम हो जाऊँगा। मुझपर उँगलियाँ उठने लगेंगी। लोग मुझे भलामानस समझते हैं। यह करतूत मेरा सर्वनाश कर देगी। लोग चौंक उठेंगे। कहेंगे, कैसा भलामानस बना फिरता था, परन्तु पूरा गुरु-घण्टाल निकला। प्रैक्टिस भी कम हो जायगी। सावित्री ब्याहता स्त्री है। उसकी तरफ मेरा हाथ बढाना बहुत ही अनुचित है। परन्तु ये सब युक्तियाँ सब विचार जल के बुलबुले थे। यह बुलबुले जितनी जल्दी बनते हैं उससे जल्दी टूट जाते हैं। हवा का हल्का-सा थपेड़ा उनका नाम-निशान मिटा देता है आदमी कितना दुर्बल, कितना बेबस है, कितना कमजोर है!

दूसरे दिन मैं सत्यवान के घर पहुँचा। परन्तु पैर लडखडा रहे थे। आज नया चोर पहली बार चोरी करने जा रहा था। उस समय मेरा हृदय किस प्रकार धडकता था? कहीं कोई देख न ले, कही मुंह का रङ्ग भेद न खोल दे। कभी-कभी भलमसी का विचार भी आ जाता

था। पैर आगे रखता था, हृदय पीछे हट जाता था। एकाएक मैंने एक फलाँग भरी और अन्दर चला गया। इस समय मेरे होंठ सूख रहे थे, और दिल धक-धक कर रहा था।

सत्यवान ने मुझे देखा, तो कुर्सी से उछल पड़ा और बड़े प्रेम से मिला। देर तक बातें होती रहीं। सावित्री भी पास बैठी थी। मेरी आँखें बराबर उसके मुख पर लगी रहीं। पहले चोर था, अब डाकू बना। सावित्री की झिझक भी दूर हो गई। वह बात-बात पर हँसती थी। अब उसे मेरी तरफ देखने में सङ्कोच न था। लज्जा के स्थान पर चपलता आ गई थी। यहाँ से चला, तो ऐसा प्रसन्न था, जैसे इन्द्र का सिंहासन मिल गया हो। इसके बाद रास्ता खुल गया। दिन में कई-कई बार सावित्री के दर्शन होने लगे। रात को दो-दो घण्टे उसके पास बैठा रहता। मेरा और सावित्री का आँखों-आँखों ही में मन मिल गया। पर सत्यवान को कुछ पता न था। कल्पना-सागर से विचारो के मोती निकालनेवाला कवि, बहुत दूर तक दृष्टि दौड़ानेवाले क्रान्तिदर्शी विद्वान् अपने सामने की घटना को नहीं समझता था। उसकी कविता दूसरो को जगाती थी, पर वह स्वयं सोया हुआ था। उस अनजान यात्री के समान जो नौका में बैठा दूर के हरे-हरे खेतों और ऊँची-ऊँची पहाड़ियों को देख-देखकर झूमता है, परन्तु नहीं जानता कि उसकी अपनी नाव भयानक चट्टान के निकट पहुँच रही है; सत्यवान धीरे-धीरे विनाश की ओर बढ रहा था। मगर उसे इसका पता न था। समझता था, पानी की सैर कर रहा हूँ। पर यह पानी की सैर न थी, मौत की सैर थी।

(८)

सावित्री

कितना फर्क है। मणिराम की आँखें दिल में आग लगा देती थीं। पास आते, तो मैं उनकी तरफ खिची जाती थी, जैसे चुम्बक लोहे की सुई को खींच लेता है। कैसा भोला-भाला लगता था, दुनिया समझती

थी, इसके मुख में जीभ न होगी। परन्तु मेरे पास आकर इस प्रकार चहचहाता है, जैसे बुलबुल फूल की टहनी पर चहचहाता है। उनके बिना अब जी नहीं लगता था। मकान काटने को दौड़ता था। चाहती थी, सारे-सारे दिन मेरे पास ही बैठे रहें। किसी ने मुंह से नहीं कहा, परन्तु आँखो से पता चला कि महल्ले की स्त्रियाँ सब कुछ समझ गई हैं। मेरी तरफ देखतीं, तो मुस्कराने लगतीं। इतना ही नहीं, अब वह भी अपने विचारो से चौंक उठे। कवि थे, कुछ मूर्ख नहीं थे। बे परवा थे, पर बे-समझ न थे। अब हाथ मल-मलकर पछताने लगे। संसार जीतते थे, घर हार बैठे। अब सदा उदास रहते थे। रात को सो नहीं सकते थे। बात करती, तो काटने को दौड़ते। आँखो में लहू उतर आता था। न खाने की ओर ध्यान था, न पीने की ओर। कई कई दिन स्नान न करते थे। अब मुझे उनके कपड़े बदलवाने का शौक न था, न उनके खाने-पीने का प्रबन्ध करती थी। कभी इन बातों में आनन्द आता था, अब इनसे जी घबराने लगा। कुछ दिन बाद प्रयाग के प्रसिद्ध मासिक पत्र "सरस्वती" में उनकी एक कविता प्रकाशित हुई। जिसका पहला पद था—

भयो क्यों अनचाहत सों सङ्ग।

कविता क्या थी, उनकी अपनी अवस्था की तसवीर थी। मेरी आँखो से आग बरसने लगी। शेरनी की नाई बिफरी हुई उनके सामने चली गई, और क्रोध से बोली—"यह क्या कविता लिखने लगे हो अब?"

उन्होंने मेरी ओर उन आँखों से देखा, जो पत्थर को भी मोम कर देती, शोक और निराशा का पूरा नमूना थीं। धीरे से बोले—"क्या बात है?"

"यह कविता पढ़कर लोग क्या कहेंगे?"

"कवि जो कुछ देखता है, लिख देता है। इसमें मेरा दोष क्या है? मैंने भी जो देखा, वह लिख दिया।"

मैंने जरा पीछे हटकर कहा—"तुमने क्या देखा है?"

"सावित्री! मेरा मुँह न खुलवाओ। अपने अन्चल में मुँह डालकर देख लो। मुझसे कुछ छिपा नहीं।"

मैंने क्रोध से कहा—"गालियाँ क्यों देते हो?"

"गालियाँ इससे लाख गुना अच्छी होतीं।"

"तो तुम्हें मुझपर सन्देह है।"

"सन्देह होता तो रोना काहे का था? अब तो विश्वास हो चुका। कान धोखा खा सकते हैं, परन्तु आँखें धोखा नहीं खाती। मैंने सब कुछ आँखो से देख लिया है। मुझे यह पता न था कि मेरा घर इस प्रकार चौपट हो जायगा। और मैं भी देखता रह जाऊँगा।"

मुझपर घड़ों पानी पड़ गया। पर प्रकृति, जहाँ दुराचार को जाना होता है वहाँ, निर्लज्जता को पहले भेज देती है। ढिठाई से बोली—"तुम कविता लिखो, तुम्हें किसी से क्या?"

"घावों पर नमक छिकड़ने आई हो।"

"मेरी तरफ देखते ही न थे। उस समय बुद्धि कहाँ चली गई थी। अब आँखें खुली हैं।"

"मैंने तुम्हें पहचाना नहीं था। नही तो आज हाथ न मलता। न इस तरह रोना पडता।"

"परन्तु लोग तो तुम्हें वाहवा कह रहे हैं। जिस पत्र में देखो, तुम्हारी ही चर्चा है, पढकर प्रसन्न हो जाते होगे। दिल का कमल खिल जाता होगा।"

यह सुनकर वे खड़े हो गये। इस समय उनकी आँखो में पगलों की-सी लाली चमक रही थी। चिल्लाकर बोले, "अपनी मौत को न बुलाओ, मैं इस समय पागल हो रहा हूँ।"

"तो क्या मार डालोगे। बहुत अच्छा, यह भी कर डालो। अपने जी की इच्छा पूरी कर लो।"

उन्होने एक बार मेरी तरफ देखा, जिस तरह सिंह अपने आखेट को मारने से पहले देखता है और झपटकर अलमारी की तरफ बढे।

मेरा कलेजा धडकने लगा, दौड़कर बाहर निकल गई। मेरा विचार था, वे मेरे पीछे दौडेंगे, इसलिए घर के सामने मैदान में जा खड़ी हुई। इस समय मेरी साँस फूली हुई थी, मृत्यु को सामने देख चुकी थी। परन्तु वे बाहर न आये। थोडी देर पीछे दन का शब्द सुनाई दिया। मैं दौडती हुई अन्दर चली गई। देखा, वे फर्श पर पड़े तड़प रहे थे। मौत का दृश्य देखकर मैं डर गई। मगर मुझे दुःख नहीं हुआ। मुकद्दमें की लपेट में न आ जाऊँ, यह चिन्ता अवश्य हुई। गिरावट की भी कोई हद है।

दो मास बीत गये। मैं अपने आँगन में बैठी मणिराम के लिए नेकटाई बुन रही थी। मैंने लोकचार की परवा न करके उनसे ब्याह का निश्चय कर लिया था। लोग इस समाचार से चौंक उठे थे। परन्तु मैं उनके मरने से जिन्दा हो रही थी। समझती थी, जीवन का सच्चा आनन्द अब आयगा। अचानक नौकर ने आकर मेरे सामने डाक रख दी। इसमें एक पैकट भी था। मैंने पहले उसे खोला। यह मेरे मृतक पति की कविताओं का सग्रह था। मैंने एक दो कवितायें पढ़ी। हृदय में हलचल मच गई। कैसे ऊँचे विचार थे, कैसे पवित्र भाव, संसार की मलिनता से रहित। इनमें छल न था, कपट न था, झूठ और जाल न था। इनमें आध्यात्मिक सुख था, शान्ति थी, माधुरी थी। मेरी आँखो से आँसू बहने लगे। एकाएक तीसरे पृष्ठ पर दृष्टि गई। यह समर्पण का पृष्ठ था। मेरा लहू जम गया। पुस्तक मेरे नाम समर्पित की गई थी। एक एक शब्द से प्रेम की लपटें आ रही थीं। परन्तु इस प्रेम और मणिराम के प्रेम में कितना अन्तर था। एक चन्द्रमा की चाँदनी के समान शीतल था, दूसरा अग्नि के समान दग्ध करनेवाला। एक समुद्र की नाई गहन-गम्भीर था, दूसरा पहाडी नाले के समान बेगवान था। एक सचाई था, परन्तु निश्शब्द, दूसरा झूठा था, पर बड-बोला। मेरी आँखो के सामने से पर्दा उठ गया। सतीत्व के उच्च शिखर से कहाँ गिरने को थी, यह मैंने आज अनुभव किया। उठते हुए पैर रुक गये गिरता हुआ धर्म बच गया। मैंने पुस्तक को आँखो से लगा लिया और रोने लगी।

इतने में मणिराम अन्दर आये। मुख आनेवाले आनन्द की कल्पना से लाल हो रहा था। उनके हाथ में एक बहुमूल्य माला थी, जो उन्होंने मेरे लिए बम्बई से मँगवाई थी। वह दिखाने आये थे। मुझे रोते देखकर ठिठक गये और बोले—"क्यों रो रही हो तुम? बात क्या है?"

"मेरी आँखें खुल गई हैं।"

"यह अपनी माला देख लो। कल ब्याह है।"

"अब ब्याह न होगा।"

"सावित्री, पागल हो गई हो क्या?"

"परमात्मा मुझे पागल ही बनाये रक्खे।"

मणिराम आगे बढ़ा। परन्तु मैं उठकर पीछे हट गई, और दरवाजे की ओर इशारा करके बोली—"उधर।"

उस रात मुझे ऐसी नींद आई, जैसी इससे पहले कभी न आई थी। मैंने पति को ठुकरा दिया था, परन्तु उसके प्रेम को न ठुकरा सकी। आदमी मर जाता है, उसका प्रेम जीता रहता है। प्रेम कभी नहीं मरता। इसे कोई नहीं मार सकता।

काल-चक्र

(१)

बहादुरशाह मुगल-वंश के बुझते हुए दीपक थे। कुछ लोगों का विचार है कि वे नाम-मात्र के बादशाह थे, असल में वे सूफी और शायर थे। उनका आधा समय ईश्वरभक्ति में कटता था, आधा गजलें कहने में। राष्ट्रीय विषयो में उनका रत्ती भर भी लगाव न था। वे इसको एक शगल समझते थे। उनका दरबार राज-दरबार नहीं, प्रत्युत कवि-दरबार था, जिसमें उनकी गजलों के पद-पद पर 'सुबहान अल्लाह' और 'जज़ाक अल्लाह' की ध्वनि उठती थी। इन जी बहलावो से जो समय बचता था उसे वे बालकों और विशेषतः अपनी पोती नर्गिस नजर के साथ बिताते थे। इस खेल में उन्हें सच्चा सुख प्राप्त होता था। वे प्रायः कहा करते थे कि बच्चो की दुनिया में जाकर मेरा मन लोट-पोट हो जाता है। उनका भोलापन उनकी चञ्चलता उनकी सरलता को देखकर वे आनन्द मतवाले हो जाते थे। नर्गिस नजर को वे शाही महल की मैना कहा करते थे। वह उनके पुत्र की पुत्री एक दासी के पेट से थी, तो भी वे जब तक उसे न देख लेते उन्हें चैन न आता था। यहाँ तक कि उन्होंने आज्ञा दे रक्खी थी कि जब तक नर्गिस नजर न आ जाय तब तक दस्तर्खान न चुना जाय। इस आज्ञा का पूर्णरूप से पालन किया जाता था। एक बार नर्गिस नजर के बीमार होने पर बादशाह दो रातो उसके सिरहाने बैठे रहे थे। उन दिनो शाही महल में इस तरह भय छाया हुआ था, मानों किसी राजा ने धावा बोल दिया हो।

(२)

जब सन् १८५७ का राज-विप्लव हुआ, तो विद्रोही सेना ने नर्गिस नजर के पिता मीरजा मुगल को अपना सेनापति बना लिया और उनके नाम पर मनमानी कार्य्यवाही करने लगे। मीर मीरजा मुगल यह देखते

थे और कुढ़ते थे। उनकी इच्छा न थी कि यह हत्याकाण्ड हो। वे सम्भवतः इसके विरुद्ध थे। परन्तु सेनापति होने पर भी कोई उनकी सम्मति की परवा न करता था। विद्रोही सेना इस प्रकार दौडती फिरती थी जैसे भूखे भेड़िये शिकार खोजते फिरते है। मीरजा मुगल ने उनको कई बार समझाने का यत्न किया, परन्तु सफल न हुए। वे सोचते, यह हो क्या रहा है? एक ओर तो मुझे सेनापति कह रहे है, मेरे नाम पर अँगरेजों की हत्यायें कर रहे है, दूसरी ओर मेरे कहने पर कान नहीं देते। कानून की दृष्टि में इस हत्याकाण्ड की जिम्मेदारी मुझपर है, यद्यपि सच्ची बात यह है कि मेरा इससे जरा भी सम्बन्ध नहीं। न मुझसे पूछते है, न मेरी राय लेते है। जो चाहते है, कर लेते है।

एक दिन मीरजा मुगल लाल किले में अपने महल की छत पर खड़े थे कि दीवान खास के सामने विद्रोही सैनिको ने कई अँगरेज पुरुषो स्त्रियो और बालकों का वध किया। इस समय नर्गिस नजर की आयु आठ बरस की थी। इस भयानक रक्तपात को देखकर वह रोती हुई पिता की टाँगों से चिमट गई और बोली,—"उनको बचा लो।"

मीरजा मुगल पहले ही बेकरार हो रहे थे, बेटी की प्रार्थना सुनकर और भी पिघल गये। उनकी आँखो में आँसू आ गये। भर्राये हुए स्वर से बोले, बेटी! मै क्या करूँ? वे मेरा कहा नहीं मानते।"

नर्गिस नजर की प्रकृति को दादा के लाड-प्यार ने बिगाड़ दिया था। वह समझती थी कि जिस तरह महल में हरएक आदमी मेरी आज्ञा मानता है, इसी तरह ये विद्रोही डाकू भी मेरी आज्ञा पर तलवारें झुका लेंगे। उसने अधीर होकर कहा—"उन्हें मेरी तर्फ से कह दो अब किसी को न मारें। नहीं मै खफा हो जाऊँगी।"

इस भोलेपन से मौलवी अमीनउल्ला को, जो नर्गिस नजर के उस्ताद थे, हिम्मत हुई। वे साहस करके आगे बढ़े और बोले—"जनाब! वे आपको अपना कमानदार कहते है?"

मीरजा ने उत्तर दिया,—"यह तो दुरुस्त है।"

"तो आप उन्हें रोकते क्यो नहीं? जरा सोचिए, औरतो के सामने बच्चो को कत्ल किया जा रहा है। उनकी फरियाद मुगल-हुकूमत के कँगूरे हिला देगी।"

मीरजा मुगल के नेत्रो से आँसू बहने लगे। सोचने लगे, कहता तो ठीक है, पर मेरा कुसूर क्या?

अमीनउल्ला ने अपने कथन को जारी रखते हुए कहा,–"आपका ख्याल ठीक नहीं कि वह आपका कहा न मानेंगे। आप जरा हुक्म तो दें। फिर देखें, मानते है या नहीं।"

मीरजा ने रोते रोते उत्तर दिया,–"वे नहीं मानेंगे।"

"तो फिर मै जाऊँ?"

"कहाँ?"

"इन लोगो को समझाकर देखूँ। शायद मान ही जायँ। शायद खुदा उनके दिल में रहम डाल दे।"

मीरजा मुग़ल ने घबराकर कहा–"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। आप वहाँ नहीं जा सकते।"

"क्यों?"

"वहाँ खतरा है।"

"मै इसके लिए भी तैयार हूँ।"

"वे आपको मार डालेंगे।"

मौलवी साहब ने छाती तान कर उत्तर दिया–"मुझे इसकी भी परवा नहीं। मै मरने को तैयार हूँ।"

यह कहकर उन्होंने नर्गिस नजर को प्यार किया, मीरजा मुग़ल से बगलगीर हुए और दीवान खास के मैदान की ओर चले। परन्तु सीढियो से भी न उतरने पाये थे कि सहसा शोर मचा। बाद में पता लगा कि मौलवी साहब शहीद हो गये है।

नर्गिस नजर रोने लगी। पर मीरजा मुग़ल के पास उसे चुप कराने के लिए लफ्ज भी न थे।

(३)

रात का समय था। लाल किले में उदासी छाई हुई थी। यह जगह थी, जहाँ इस समय कपूर के दीपक जला करते थे और जहाँ दास-दासियों के कोलाहल से कान पड़ा शब्द सुनाई न देता था। परन्तु आज वहाँ सुनसान अन्धकार का राज था। न रोशनी थी, न रौनक थी। इतने में दरवाजे से एक बैलगाडी निकली। उसमें नर्गिस नजर, उसकी माँ और एक पुरुष सवार थे। देहली को उसी दिन अँगरेजो ने जीत लिया था। बादशाह हुमायुँ के मकबरे में गिरफ्तार हो गये थे और मीरजा मुगल अपनी जान छिपाते फिरते थे। नर्गिस नजर की मा ने अन्तिम बार किले की ओर देखा और ठण्डी साँस भरकर गाड़ीवान से कहा,—"चल भाई ले चल।" कैसा हृदय-वेधक दृश्य था, कैसी तड़पानेवाली घटना? वही नर्गिस नजर और उसकी मा, जो मखमल पर सोती थीं? फूलो पर चहकती थीं, रविशो पर टहलती थीं, इस समय अपने प्राण बचाने के लिए अँधेरी रात में भागी जा रही थी। वे ऐश्वर्य्य के दिन थे, उस समय ईर्ष्या स्वयं उनसे ईर्ष्या करती थी। आज समय ने पासा पलट दिया था। इस समय दुर्भाग्य भी उनके लिए रो रहा था।

परन्तु इस दुर्भाग्य की भी किसे परवा थी। कोशिश यह थी कि जैसे हो, इस जलती आग से निकल चलें, वर्ना खैर नहीं। गाड़ी किसी अभागे के भाग्य की तरह ठोंकर खाती हुई रवाना हुई। रोशनी होती तो भागना कठिन हो जाता, परन्तु कभी-कभी प्रकृति अभागों की सहायता करती है। इस समय भी ऐसा ही हुआ। परन्तु अभी छत्रपुर के निकट ही पहुँचे थे कि आकाश में चन्द्रमा ने सिर ऊँचा किया। अभागा यात्री-समूह अँधेरा ढूँढ़ने लगा। पर सारे संसार का अन्धकार तो उनके हृदय में इकट्ठा हो चुका था, उसका बाहर कैसे पता लगता? नर्गिस नजर की माँ घबरा गयी। उसने मन ही मन में सैकड़ो मिन्नतें मानीं। परमात्मा से प्रार्थना की। पीरों को भेंट देना स्वीकार किया। परन्तु होनहार को कौन टाल सकता है।

एकाएक धूल उड़ती दिखाई दी। गाड़ीवान का कलेजा धड़कने लगा। सन्देह ने कहा कि विपत्ति सिर पर मँडरा रही है, तैयारी कर लो। साथ ही यह खयाल भी आया कि सम्भव है, अपने ही आदमी हो। आशा अन्तिम श्वास तक साथ नहीं छोड़ती। कुछ देर यही अवस्था रही, यहाँ तक कि वह दल निकट आ गया। कुदरतखाँ का कलेजा हिल गया। ये लोग विद्रोही सेना के सिपाही थे। जो हताश होकर चीते से अधिक क्रुद्ध और काले नाग से अधिक भयङ्कर हो गये थे। अब क्या होगा ?

कुदरतखाँ ने गाड़ीवान से कहा,–'गाड़ी रोकलो' और तलवार लेकर खड़े हो गये। परन्तु हाथ-पाँव काँप रहे थे। स्त्रिया रोने लगीं। गाडीवाले का लहू सूख गया। सिपाही निकट आ गये। उनके हाथो में भाले थे, नेत्रो में आग थी, दिलों में बेरहमी थी। आते ही बोले,–"जो कुछ पास है, खोलकर रख दो, नहीं तो सबको मार देंगे।"

कुदरतखाँ ने कहा,–"भाइयो! तुम हमारे आदमी हो। तुम्हें सोचना चाहिए, कभी तुम हमारी आँखो के इशारे देखा करते थे। आज किस्मत ने मुँह फेर लिया है, तो तुम भी धमकियाँ देते हो। यह बात किसी मजहब में मुनासिब नहीं। न हिन्दुओ में, न मुसलमानो में।"

एक सिपाही ने उत्तर दिया,–"तुम्हीं ने तो चुगलियाँ खाकर हमें हरवाया है, नहीं तो हम इस समय जङ्गलो में सिर न छिपाते फिरते। अब बातें करने चले हो।"

"तो खुदा से डरो। इस गाडी में शाही हरम ही एक खातून है। उनकी इज्जत करना जैसा मेरा फर्ज है, वैसा ही तुम्हारा भी है। बादशाह बाप के बराबर होता है।"

एक दूसरे सिपाही ने बिगडकर कहा,–"मारो साले को, बातें बनाता है।"

अवकाश भय के दूर करने की सबसे अच्छी दवा है। कुदरतखाँ के लिए यह अवकाश अमृत हो गया। उसका भय जाता रहा, राजभक्ति का भाव नस-नस में जागृत हो उठा। नेत्र चमकने लगे। तलवार

निकालकर निर्भयता से बोले,—"सँभालकर बात करो। मैं इनके लिए अपना सिर दे दूँगा। पहले मैं मरूँगा, फिर कोई इनकी तरफ आँख उठाकर देख सकेगा।"

सिपाही एक तो निराश, दूसरे संख्या में अधिक इस बात को न सह सके, बिगड़ते हुए भेड़ियो की नाईं कुदरतखाँ पर टूट पडे। कुदरतखाँ ने यथाशक्ति सामना किया, परन्तु शीघ्र ही मारे गये। इनकी यह गति देखकर गाड़ीवान गाड़ी छोड़कर भाग गया।

घना जङ्गल था, रात का समय था। इन नर-पिशाचो ने नर्गिस नज़र और उसकी मां दोनो के पास जो कुछ था, रखवा लिया। इतना ही नहीं, उनके तन के वस्त्र तक भी उतरवा लिये और चलने लगे। मा-बेटी की चीखें निकल गई। उन्हें रोता देखकर इन पिशाचों का हृदय भी पिघल उठा। एक ने नर्गिस नज़र को अपने घोड़े पर बिठा लिया। उसका हृदय इस समय प्रेम का स्रोत बना हुआ था। दूसरे ने नर्गिस नज़र की मां का हाथ पकड़ लिया, उसके हृदय पर सौन्दर्य ने अपनी मोहिनी डाल दी थी। नर्गिस नजर और उसकी मां के रास्ते अलग-अलग हो गये। किस्मत में यह भी लिखा था।

(४)

दूसरे दिन नर्गिस नज़र सोहाने पहुँची। जिला गुड़गाँव में यह एक छोटा-सा कस्बा है। वह सवार वहीं का रहनेवाला था, जिसकी प्रेम-भरी गोद में भाग्य ने नर्गिस नज़र को ला फेंका था। वह जाति का घसियारा था। उसके यहाँ कोई सन्तान न थी। इस अमूल्य रत्न के लिए उसने सैकड़ो यत्न किए, परन्तु कोई लाभ न हुआ। ओषधियाँ खाईं; गडे तावीज़ पहने, धूनियाँ रमाईं, साधुओं की सेवा की। अपनी आयु के कई वर्ष इसी फेर में व्यतीत कर दिये, परन्तु आशा पूरी न हुई। खाली घर उसी प्रकार खाली रहा। यहाँ तक कि १८५७ ई० का साल आ गया। जिसके सन्तान नही होती उसका हृदय पाषाण हो जाता है, उसके दिल में प्रेम नहीं रहता। वह विद्रोही सेना के साथ मिलकर राष्ट्रीय

प्रबन्ध को नष्ट-भ्रष्ट करने लगा। मौलवी अमीनउल्लाह को दिनदहाड़े मार डालनेवाला यही घसियारा था।

दोपहर का समय था, घसियारा अपने घर पर पहुँचा और नर्गिस नज़र को बाहर ठहराकर अन्दर गया। उसकी स्त्री ने अधीरता से पूछा, "क्या मिला?"

"तुम बतलाओ?"

"रुपया पैसा।"

"इससे बढ़कर।"

"सोने का भूषण।"

"उससे भी अच्छी वस्तु।"

"वह क्या?"

घसियारे ने कहा,—"एक फूल सी खूबसूरत लड़की।"

घसियारिन का चेहरा खिल गया। उसकी आँखो में आनन्द झलकने लगा। वह अधीर होकर भागी और नर्गिस नजर को गले से लगाकर रोने लगी। इस समय उसे ऐसा मालूम हुआ, मानो नर्गिस नजर उसकी अपनी बिछुडी हुई बेटी है, जो चिरकाल के बाद उसके पास वापस आई है। इस रात उन दोनो के आनन्द का पारावार न था। उनको वह वस्तु मिली थी, जिसके लिए दिन-रात रोते रहते थे। इस महान् विप्लव ने उनके भीगे हुए नेत्रों को शुष्क कर दिया था। परन्तु शोक! उनका यह आनन्द केवल एक रात के लिए था, जो प्रात.काल चन्द्रमा की चाँदनी के साथ ही नष्ट हो गया। दिन चढा, तो अँगरेजी सेना के सिपाहियों ने घसियारे को गिरफ्तार कर लिया और देहली ले चले। वहाँ पचासों आदमियों ने गवाही दी कि यह आदमी विप्लव में शामिल था। अधिकारियो ने उसे फांसी का दण्ड दिया। यह समाचार घसियारिन ने सुना, तो पछाड़ खाकर गिर पड़ी, और कई दिन तक बीमार रही। नर्गिस नजर ने उसकी सेवा-सुश्रूषा में दिन-रात एक कर दिया। मा को खोकर उसने मा की कद्र जानी थी। परन्तु इसका सारा प्रयत्न व्यर्थ हुआ। घसियारिन बच न सकी। नर्गिस नजर सिर पीटकर रह गई।

वह अब संसार में अकेली थी, निस्सहाय और दीन। न मां थी न बाप था; न कोई और सगा था। जब कभी पिछले ऐश्वर्य के दिनों को स्मरण करती तो नयनो से आंसू झलक पड़ते और पहरो हिचकियाँ बँधी रहतीं। परन्तु विवश थी। ढोर डंगर चराती थी, उपले थापती थी और रूखा-सूखा खाकर जहाँ जगह मिलती वहीं पड़ रहती थी। यह वह लड़की थी, जो महलों में रहती थी, जिसके इशारे पर नौकर दौडते थे। आज वह यतीम थी।

(५)

कष्ट के कई वर्ष बीत गये। नर्गिस नजर जवान हुई। उसके मद-मत्त यौवन की किरणों से सारा गाँव जगमगाने लगा। प्रकृति ने उससे सुख-सम्पत्ति छीन ली थी, माता-पिता छीन लिये थे, परन्तु उसके रूप-सौन्दर्य को वह भी न छीन सकी। वह गाँव में रहती थी, गाँववालो को चिन्ता हुई कि जवान लड़की का कुँआरी रहना उचित नहीं। किसी ने वस्त्र दिया किसी ने रुपया पैसा, और नर्गिस नजर का ब्याह एक घसियारे के साथ कर दिया गया। उस समय बहादुरशाह का समय याद आ गया, जब उसकी बात टालने का साहस किसी को न था। ब्याह के पश्चात जब एकान्त हुआ, तो घसियारे पति ने कहा,—"देखो, तुमने शाही घराने की रोटियाँ खाई है, यहाँ वह आनबान न चलेगी। अब अपने ऐश के दिनों को भूल जाओ, और घसियारिन की तरह रहो। नहीं तो मार-मारकर हड्डियाँ तोड़ दूँगा। मुझे नाज़नखरे पसन्द नहीं।"

नर्गिस नज़र के कलेजे में जैसे किसी ने बाण मार दिया। वह कई वर्षों से दुःख झेल रही थी। विपत्तियों की आँधी में उसने अपने सजल नेत्र किसी के सामने न किये। शाही गौरव उसको दीनता के प्रकट करने से रोक देता था। परन्तु अब उसे यह आशा न थी कि ब्याह के पहले ही दिन पति उसे ऐसे कठोर शब्द कहेगा। प्रेम की दो बातो के स्थान में बाण जैसे शब्द सुनकर नर्गिस नजर को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो किसी ने गोली मार दी हो। वह काम करने से न घबराती थी,

न निर्धनता का जीवन उसे दुर्वह जान पड़ता था, परन्तु क्या उसके प्रारब्ध मे चार मीठे शब्द न थे? उसके नेत्रो में आँसू बहने लगे। एक दिन वह था, जब इन आँसुओ पर मोती निछावर होते थे। परन्तु आज यह सुन्दर जल कितना निकृष्ट हो गया था। समय के फेर ने उसके मोल को धूल में मिला दिया था।

संसार की सबसे बडी कहानी

(१)

पृथ्वी के प्रारम्भ में जब परमात्मा ने हमारी नयनाभिराम सृष्टि रची, तो आदमी को चार हाथ दिये चार पाँव दिये दो सिर दिये एक दिल दिया। और कहा—"तू कभी दुःखी न होगा। तेरा ससार स्वर्ग है।"

उस समय आदमी बलवान् सूरमा, शान्त प्रसन्न-हृदय और प्रफुल्ल-वदन था। प्रकृति की समझ में न आनेवाली सारी शक्तियाँ सदा उसके सामने पानी भरती थीं, और दुःख दर्द पर और कलह और कष्ट पर ससार के द्वार बन्द थे। और यह बीमारियाँ ससार का द्वार खटखटाती थीं, और लौट जाती थीं।

परन्तु शैतान को यह स्वर्गीय दृश्य पसन्द न आया।

उसने अपने छल-कपट के और धोखा-धड़ी के विनाशकारी शस्त्र लेकर आदमी पर बार-बार आक्रमण किये, परन्तु चार हाथोवाले, चार पाँववाले दो सिरोंवाले, एक दिलवाले आदमी के सामने उसकी कोई पेश न गई, और सुधा और संगीत का सुन्दर संसार पाप की काली छाया से सुरक्षित रहा।

परमात्मा अपने जीव की इस वीरता पर प्रसन्न हुआ, और आदमी का संसार स्वर्ग बना रहा।

आदमी ने यह देखा, और खुश हुआ।

(२)

बहुत देर के बाद शैतान को दुनिया का फिर ख्याल आया, और उसने दुनिया पर फिर हमला किया।

रात का समय था। आदमी शान्ति निद्रामें स्वर्ग के सपने देख रहा था। शैतान अपने झिल्लीदार पंजों को धीरे-धीरे जमीन पर रखता हुआ आदमी के पास आया और अपनी जादू की तलवार से उसके दो टुकड़े

करके भाग गया। परन्तु आदमी को आधी रात के इस आसुरी कृत्य का ज्ञान न हुआ।

प्रातःकाल जब संग्राम हुआ, तो दो हाथोवाले दो पांववाले, एक सिरवाले, आधे दिलवाले, आदमियो ने शैतान का देह और आत्मा की सम्पूर्ण शक्तियों से मुकाबिला किया; परन्तु उनमें साहस और उत्साह न था। और शैतान के वार भारी थे, और आदमी के किये कुछ बनता न था।

शैतान जीत गया।

उसने विजय और विलास का कहकहा लगाया, और इसके साथ ही शान्त और संतोष-भरे संसार में ईर्ष्या-द्वेष और दु:ख दारिद्रय की भयानक बीमारियो ने प्रवेश किया।

(३)

अब आदमी वह पहला सूरमा, सज्जन, बुद्धिमान आदमी न था। उसके अधरो पर मुस्कान के स्थान में ठडी आहें थीं; और जीवन का प्रकाशमय मार्ग उसकी आँखों से ओझल हो गया था। और उसके दिल में खुशी न थी।

और दो हाथोवाला, दो पाँवोवाला, एक सिरवाला, आधे दिलवाला आदमी अपने भगवान् के सामने भूमि पर गिर पड़ा, और अपने बीते हुए सुनहरे समय की वापसी के लिए रो-रोकर प्रार्थना करने लगा।

परमात्मा ने अपने उपासक का आर्त्तनाद सुना, और कहा,—"उठ! निराशा छोड। अपने बिछुडे हुए दोनों भाग मिला, और फिर तुझे कोई भी दु:ख न दे सकेगा, और तेरा संसार स्वर्ग बना रहेगा।"

प्रेम और पवित्रता की, जीवन और ज्योति की, सगीत और सौन्दर्य की यह अमर वाणी आज भी वायु-मण्डल में उसी तरह गूंज रही है। मगर दुनिया के अजान बेटे उसकी ओर ध्यान नहीं देते, न उनका ससार स्वर्ग बनता है।

शैतान यह देखता है, और हँसता है।

भग्न-हृदय

(१)

सध्या का समय था। जगतसिंह नदी के किनारे पर आये और सुन्दरी प्रमदा के पास बैठ गये, पर प्रमदा उसी तरह उदास बैठी रही। उसने ज़रा हरक़त न की।

उसे जगतसिंह से प्रेम था। वह उन्हें देखकर आनंद में विह्वल हो जाती थी। उसने उनकी आँखों में प्रेम की तरंगे दौड़ती देखी थीं। उसने उनकी रसीली वाणी में प्रेम का पाठ पढ़ा था। उसने उनके ओजस्वी बचनो में प्रेम का संगीत सुना था, और इन सब प्रभावों को अपने अन्तस्तल में छिपा रक्खा था। वह उन्हें देखकर प्रसन्नता से झूमने लग जाती थी। उसकी यह आनन्द-लहरी जगतसिंह को भी मतवाला बना देती थी, जिस तरह खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग पकड़ता है। या जिस तरह दिये से दिया जलता है।

परन्तु आज जगतसिंह के आने पर उसने कोई हर्ष, कोई उल्लास, कोई आवेग प्रकट न किया, और जिस तरह बैठी थी उसी तरह बैठी रही। मानो वह जीती-जागती नारी नहीं, मिट्टी की मूर्ति थी, जिसमें कोई चेष्टा, कोई भावना न थी। जगतसिंह ने धीरे से अपना सख्त हाथ उसके कोमल कंधे पर रखा और एक प्यार से भरी हुई थपकी देकर कहा,—प्रमदा! ज़रा चहको।"

प्रमदा ने अपना मुँह जगतसिंह की तरफ मोड़ा और अपनी आँखें उसकी तरफ उठाईं, परन्तु उनमें वह चंचलता न थी, जिसने जगतसिंह के हृदय को जीत लिया था। उनमें आँसू थे और आँसुओ में करुणा थी। जगतसिंह के हृदय पर एक घूँसा-सा लगा। थोड़ी देर चप रहकर बोले,—"प्रमदा" मैं क्या कर सकता हूँ?"

प्रमदा ने जगतसिंह का सख्त मर्दाना हाथ अपने कोमल ज़नाने

हाथ में लेकर दबाया और कहा,—"तो तुम जरूर जाओगे ? तुमने यही निश्चय किया है ?"

"यह मेरा कर्त्तव्य है, जिसे मैं अवश्य पूरा करूँगा, और मुझे करना चाहिए।"

"कैसे मर्द हो, मेरा विचार न करोगे ?"

जगतसिंह के तेवर बदल गये। उन्होंने प्रमदा की ओर घूमकर देखा और बोले,—"तुम राजपूतनी हो ?"

"हाँ ?"

"तुमने राजपूतनी का दूध पिया है ?"

"हाँ।"

"तो फिर यह तुम्हारे शब्द मुँह से क्योंकर निकले ? राजपूत सिंहनी मर जाना स्वीकार करती, परन्तु, यह शब्द अपने मुँह से न निकालती। हमारे इतिहास में स्त्रियों ने कभी पुरुषों को युद्ध में जाने से नहीं रोका। वह यह सोच भी नहीं सकतीं।"

प्रमदा की आँखो से आँसू बहने लगे; रोते रोते बोली—"मैं तुम्हें युद्ध-भूमि में जाने से नही रोकती, यह तुमपर देश का ऋण है। पर-मात्मा करे, तुम्हारा दूर-दूर तक यश हो। परन्तु मेरे यह वियोग के दिन क्योंकर कटेंगे ? मेरी आँखें तुम्हें ढूँढती रहेंगी। मैं क्या करूँगी ?"

जगतसिंह का क्रोध इन आँसुओ में इस तरह बह गया, जिस तरह नदी की प्रबल धारा में तिनका वह जाता है। कठोरता का स्थान कोमलता ने ले लिया। धीरे से बोले—"थोड़े दिन की बात है, मैं जल्दी वापस आ जाऊँगा।"

"पर मेरी जो दशा होगी वह मैं ही जानती हूँ।"

"भविष्य का विचार करो। मैं युद्ध-क्षेत्र में अपने नाम के डंके बजा दूँगा।"

"इस समय तो कोई मेरा कलेजा मल रहा है।"

"थोड़े दिनो के बाद तुम्हें तुम्हारी सहेलियाँ बधाइयाँ दे रही होंगी।"

"परमात्मा करे वह दिन जल्द आये—मैं उसी की प्रतीक्षा में तुम्हारी राह देखती रहूँगी।"

यह कहते-कहते प्रमदा ने आँखें बंद कर लीं और उस दिन की कल्पना में लीन हो गई। यह कल्पना कैसी मनोहर थी, कैसी आह्लाद-भरी। प्रमदा की आँखो में वह दृश्य फिर गया जब जगतसिंह विजय-पताका उड़ाता हुआ वापस आयेगा, और मेवाड़ के राजपूत उसकी राह में आँखें बिछा देंगे। सोचने लगी, उस समय मैं कैसी प्रसन्न हूँगी। पृथ्वी पर पाँव न पड़ेंगे, मन की प्रसन्नता मन में न समा सकेगी और होठों पर मुस्कराहट बनकर प्रकट हो जायगी, जैसे पानी तले वायु हो तो बुलबुले ऊपर दिखाई देने लगते है।

एकाएक उसने जगतसिंह की आँखो से अपनी आँखें मिलाई और दुःख व चिन्ता के आँसुओ को छिपाकर पूछा,—"यह महबूब खाँ कौन है?"

"मुगल-सिपहसालार।"

"अच्छा। और चढ़ाई का कारण क्या है? हमारे राणा ने तो कभी मुगलो पर आक्रमण नहीं किया।"

"वह हमें जीतना चाहते है।"

प्रमदा ने स्त्रियो के स्वाभाविक कटाक्ष से अपनी लम्बी और कोमल उँगली अपने गाल पर रखी और चिंतित-सी होकर बोली,—"यदि हम हार गये तो फिर क्या होगा?"

यह कह कर उसने ठण्डी साँस भरी।

जगतसिंह ने एक हाथ से प्रमदा का कन्धा पकड़कर उसे प्यार से हिलाया और दूसरा हाथ अपनी तलवार की मुट्ठी पर रखा और कहा,—"प्रमदा, यह कभी नहीं हो सकता। हम राजपूत है; सिरों की बाजी लगा देंगे। हमें हराना आसान नहीं।"

इतने में डंके की चोट सुनाई दी। जगतसिंह और प्रमदा दोनों उडते हुए सड़क के किनारे पहुँच गये। वहाँ सिपाहियो का समुद्र लहरा रहा था। उस समय उनके चेहरों पर कैसा तेज था, नेत्रों में

कैसी चमक। प्रमदा की सोई हुई वीरता भी जाग उठी। सिंहनी माता का दूध अकारथ न गया। वह टकटकी लगाकर उन शूरवीर सिपाहियो की ओर देखने लगी, जो अपनी जन्मभूमि की लाज रखने के लिए प्राण भेंट देने के लिए जा रहे थे। सहसा उसके हृदय में एक शका उत्पन्न हुई, कहीं जगतसिंह घायल न हो जायें। इस शका का उत्पन्न होना था कि उसकी आँखों तले अधेरा छा गया। उसने सहारे के लिए जगतसिंह की ओर हाथ बढाया, परन्तु वह वहाँ न थे। भीड़ में किस समय बिछुड़ गये, इस बात का उसे पता तक न था। प्रमदा मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी।

घोडे दौड रहे थे, और प्रत्येक दर्शक जो पूरी सावधानी से अपना बचाव न कर रहा था, खतरे में था। प्रमदा के अचेत शरीर पर एक घोडे के पांव पड़ने ही वाले थे, कि एक सवार ने बिजली की-सी तेजी से आगे बढकर उसे इस प्रकार उठा लिया, जैसे सोते हुए बच्चे को मा उठा लेती है। प्रमदा बच गई।

जब उसे सुध आई, तो वह अपने घर में थी, और उसके सामने एक सुन्दर नवयुवक बैठा था। प्रमदा ने उसे देखा; उसने प्रमदा को देखा, और एक ही दृष्टि में ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कई ससार बदल गये हैं। प्रमदा के प्राण बच गये थे, परन्तु दिल न बच सका। उसे कामदेव के तीरों ने बेध दिया था। उसे नये आदमी के प्यार ने जीत लिया था।

(२)

यह सिपाही राणा का सिपहसालार जयसिंह था। उसकी और प्रमदा की प्रीति से जगतसिंह के प्राणो पर आ बनी, परन्तु वह कुछ कर न सकते थे। उन्हें प्रमदा से यह आशा न था। वह समझते थे, सब कुछ हो सकता है, परन्तु प्रमदा से धोखे की आशा नहीं हो सकती। उन्हें इस बात का विश्वास था। परन्तु जो न सोचा था वह हो गया, प्रमदा ने आँखें चुराना आरम्भ किया। जो प्रेम की भूखी थी, उसने धन और मान को अपना हृदय दे दिया, और एक ही सप्ताह के अन्दर

उसकी मँगनी जयसिंह के साथ पक्की हो गई। जयसिंह खुशी से पागल हो गया। और क्यों न होता, उसे आसमान का चाँद मिल गया था।

मगर जगतसिंह ने यह सुना, तो सिर पीट लिया। आशा कुचले हुए सर्प के समान मिट्टी में तड़पने लगी, पर उन्होंने अपने हाव-भाव में अन्तर न आने दिया, और सन्ध्या-समय उसी तरह नियम से नदी-तट पर जाते रहे, बैठते रहे, प्रमदा की राह देखते रहे। उनका विचार था कि सम्भव है, कभी प्रमदा इधर आ निकले तो, उससे दो-दो बातें हो जायँगी। परन्तु प्रमदा ने कभी उधर मुँह भी न किया। उधार लेकर बाबू बनिये की दूकान के सामने से गुजरना बन्द कर देते हैं। यहाँ तक कि पन्द्रह दिन बीत गये और सेना सीमा-प्रदेश को रवाना हुई। प्रमदा का हृदय दुःख के बोझ से दब गया, परन्तु यह आशंका जगतसिंह के लिए नहीं, किन्तु जयसिंह के लिए थी। जिसे उसने दिल दिया था। जिसके साथ उसने प्यार की प्रतिज्ञा की थी। जिसके साथ उसने ब्याह की बात पक्की की थी। स्त्री अपने प्रेम में इतना बदल सकती है, यह जगतसिंह के लिए नया अनुभव था। परन्तु वह प्रमदा के प्रेम में अब दृढ़ थे, और जिस दिन उन्हें युद्ध-क्षेत्र को जाना था, उस दिन भी नदी-तट पर पहुँचे, और उस स्थान से जहाँ वह और प्रमदा दोनों बैठकर प्रेम की बातें किया करते थे, इस तरह रो-रोकर बिदा हुए, मानों वह स्वयं प्रमदा से बिदा हो रहे हों।

जयसिंह सेना को लिये हुए रण-भूमि में पहुँचे। वहाँ भीषण हत्या-काण्ड मचा हुआ था। जयसिंह ने अपनी ओर से सारा बल लगा दिया, परन्तु भाग्य के सामने एक न चली। राजपूतों के पैर उखड़ गये, महबूबखाँ की सेना में विजय की ध्वनि उठने लगी। जयसिंह भाग खड़ा हुआ। उसको नाम और यश की इच्छा तो थी, परन्तु उस यश के लिए जिस बल और बलिदान की आवश्यकता है, उससे वंचित था। सेना ने सिपहसालार को भागते देखा, तो उनका रहा-सहा साहस भी टूट गया। चारों ओर आपा-धापी मच गई—अपमान सामने खड़ा

घूर रहा था। जगतसिंह ने यह देखा, तो उनकी आँखों से आग के अगारे बरसने लगे। वह सिंह की नाईं गर्जने लगे। उस समय उनकी जिह्वा पर सरस्वती थी। एक-एक शब्द हृदय में चुभता चला जाता था। उनकी वक्तृता ने भागती हुई सेना के पाँव पकड लिये। विजय और पराजय में फिर सग्राम होने लगा। जगतसिंह जिधर झुकते थे पर्रे के पर्रे साफ करते जाते थे। उनके सामने कोई खड़ा न हो सकता था, जैसे तूफान के सामने तिनका नहीं ठहरता। यहाँ तक कि संध्या होते-होते युद्ध का पासा पलट गया। जो विजयी थे उनको पराजय का सदेह होने लगा और जो हार चुके थे उन्हें विजय का विश्वास बँध गया। विजय और पराजय में दो कदम का फर्क है।

दूसरे दिन युद्ध फिर आरंभ हुआ। आज दोनो ओर बडा जोश था। एक पक्ष का साहस बढ़ा हुआ था, दूसरा जीवन से हाथ धोकर क्रुद्ध सर्प की नाईं फुकार रहा था। परन्तु जगतसिंह की-सी निर्भयता कहीं दिखाई न देती थी। वह विफलमनोरथ थे। उन्हें जीवन की कोई अभिलाषा न थी। सोचते थे, अगर बच गया, तो क्या करूँगा। मेरे जीवन का वसन्त समाप्त हो चुका है, अब पतझड में रहें भी, तो क्या रहें? इससे तो यही अच्छा है कि जन्मभूमि पर बलिदान हो जायें, कोई याद तो करेगा। इस विचार ने उन्हें मृत्यु की ओर से बेपरवाह कर दिया था। वह मरने को तैयार थे, परन्तु मृत्यु उनके निकट न आती थी, मानो उसे भी उनसे डर आने लगा था। एकाएक मालूम हुआ कि जयसिंह शत्रुओ के घेरे में है। जगतसिंह के होठो पर प्रतिकार की मुस्कराहट खेलने लगी। परन्तु दूसरे ही क्षण में उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो प्रमदा उनकी ओर घृणा से देख रही और कह रही है—मुझे यह विचार न था कि तुम ऐसे नीच भी हो सकते हो। इस समय यह तेरा दुश्मन नहीं, तेरा साथी है, जो तेरे देश के दुश्मनो से लड रहा है, और तू उसकी हार पर खुश होता है।

गंगा का बहाव बदल गया। जगतसिंह ने घोडे को एड़ लगाई

और मनोगति के समान उड़ते हुए वहाँ पहुँच गये, जहाँ जयसिंह पृथ्वी पर अचेत पड़ा था, और एक मुगल-सिपाही उसपर झुका उसको कतल करना चाहता था। यदि एक भी क्षण का विलंब हो जाता, तो जयसिंह मारा जा चुका था। अकस्मात् जगतसिंह घोड़े को उड़ाते हुए वहाँ पहुँचे और जयसिंह के मुच्छित शरीर को उठा ले गये। शत्रु चकित रह गये। इस प्राणपण की किसी को आशा न थी। जगतसिंह पर चारों ओर से बाणो की वर्षा होने लगी, परन्तु वह इनकी इतनी भी परवा न करते थे जितनी छोटा बालक पानी की बूंदों की करता है। वह घोड़े को उडाये लिये जाते थे। इस समय उन्हें अपने तन-बदन का होश न था, न मरने का भय था। उन्हें केवल एक विचार था, कि किसी तरह जयसिंह के प्राण बच जायें और उनका यह मनोरथ सिद्ध हो गया। परन्तु उनका अपना शरीर तीरो से छलनी हो गया और उन्हें इसकी परवा न थी।

(३)

विजयी सेना मेवाड में पहुँची, तो लोगो ने पैरो में आँखें बिछा दीं। जयसिंह के हर्ष का ठिकाना न था। बाजारो में पुरुष थे, उन्होने जय-कार लगाये। छतो पर स्त्रियाँ थीं, उन्होने फूल बरसाये। जयसिंह ऐसा प्रसन्न था जैसे कोहनूर हीरा हाथ लग गया हो, ऐंठ-ऐंठकर चलता था और बारम्बार छतो की ओर देखता था, जैसे किसी वस्तु की खोज कर रहा हो। सहसा उसका कलेजा धडकने लगा। प्रमदा स्त्रियो में खड़ी थी और उसकी ओर प्रेम और प्यास की आँखों से देख रही थी। जयसिंह ने अपने लम्बे कद को और भी लम्बा किया और गर्व से चलने लगा। पुरुष कहते थे, कैसा सूरमा है, इसने अपने नाम की लाज रख ली है। स्त्रियाँ एक दूसरी से बातें करती थीं, इसने माँ का दूध सफल कर दिया, कैसा बाँका वीर है। परन्तु जगतसिंह जिन्होने अपने आपको मौत के मुख में देकर यह विजय खरीदी थी, पालकी में सबसे पीछे थे। उनपर न किसी स्त्री ने फूल फेंका और न किसी पुरुष

न उनके नाम का जयकार बुलाया। जयसिंह के हृदय में जब कभी यह विचार आ जाता, तो उसका मुख-मडल फीका पड जाता, जैसे चन्द्रमा पर बादल आ जाते है। मगर दूसरे क्षण में वह फिर चमकने लगता। चाँद बादलों से बाहर निकल आता था।

दूसरे दिन दरबार लगा। लोग इस तरह टूटे जैसे पतग दीपक पर टूटते है। कहीं तिल फेंकने को स्थान न था। चारो ओर आदमियो के सिरो का सागर लहरा रहा था। सबकी आँखें एक-मात्र जयसिंह के मुख पर लगी थीं। लोग उसकी ओर देखते थे और उसके सौभाग्य की चर्चा करते थे। ईश्वर की महिमा देखो, जो दासी थी, वह रानी बन बैठी और जो रानी थी उसे कोई पूछता भी न था—जगतसिंह अपने मकान की अँधेरी कोठरी में पडे थे और अपने घावों से कराह रहे थे।

राणा ने खडे होकर कहा—"जयसिंह! मै तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मुझे तुमसे जो जो आशाएँ थीं, तुमने वह सारी पूरी कर दीं। मेवाड का बच्चा-बच्चा तुम्हारा कृतज्ञ है। तुम शूरवीर हो। तुमने युद्ध में पीठ नहीं दिखाई। तुमने प्राणपण से काम किया है, इसलिए—"

चारो ओर सन्नाटा था, कोई शब्द सुनाई न देता था। लोग अपने जातीयरक्षक की प्रशसा महाराणा के मुख से सुनने को अधीर हो रहे थे। सहसा एक बूढा आदमी हाथ बाँधकर खडा हो गया और ऊँचे स्वर से बोला,—"महाराज! यह झूठ है। विजय जयसिंह ने प्राप्त नहीं की। यह असम्भव था। इसमें मरने का साहस नहीं, लड़ने का उत्साह नहीं। इसने मेवाड का नाम डुबा दिया था।"

दरबार में कोलाहल मच गया, परन्तु महाराज के इशारे से फिर चारों ओर शान्ति हो गई। उन्होंने पूछा,—"तो यह विजय किसने प्राप्त की है?"

बूढे ने कहा—"जगतसिंह ने।"

जयसिंह का मुख कानो तक लाल हो गया। परन्तु उसने साहस से कहा—"यह कौन कहता है?"

उस समय उसकी आवाज़ थरथरा रही थी।

राणा साहब ने जयसिंह को चुप रहने का इशारा किया, और वृद्ध रामसिंह से पूछा,—"तुम्हारे पास इसका क्या प्रमाण है, कि विजय जयसिंह ने प्राप्त नहीं की ?"

"मैं राजपूत हूँ। मैं झूठ नहीं बोलता।"

"परन्तु जयसिंह भी तो राजपूत है। तुम दोनो सच्चे नहीं हो सकते एक झूठा होगा।"

"स्वयं जगतसिंह से पूछ लिया जाय।"

"यह कैसे हो सकता है।" जयसिंह ने बड़बड़ाते हुए कहा,—"वह बीमार है, उसे यहाँ लाना उसको मृत्यु के मुख में डालना है।"

महाराणा ने कहा,—"हमें उसका जीवन प्यारा है, परन्तु हमें सचाई उससे भी प्यारी है। जाओ उसकी पालकी यहाँ उठा लाओ। इस बात का निर्णय होना चाहिए।"

(४)

रामसिंह की बात सुनकर जगतसिंह फुंकारें मारने लगे। उन्हें जयसिंह से इस नीचता की आशा न थी। वह लेटे हुए थे, उठकर बैठ गये और अपना तकिया दूर फेंककर बोले,—"रामसिंह! यह असह्य है, मैं चलकर जयसिंह का मुँह बन्द कर दूंगा। मुझे दरबार में ले चलो।"

पालकी दरबार को रवाना हुई।

जगतसिंह सोचते थे, जयसिंह ने राजपूतो के नाम को कलंक लगा दिया। वह कायर है, यह मैं जानता था। परन्तु वह झूठा भी है, इसका मुझे पता न था। उसने पहले मेरे प्रेम की नगरी उजाड़ी थी, अब कीर्ति की दौलत पर डाका मारता है। मैंने एक बार सहन किया, परन्तु अब न करूँगा। पुरस्कार लेने गया था, लज्जित होकर निकलेगा। मैं उसका एक साधारण सैनिक हूँ। कदाचित् वह समझता होगा कि मुझमें यह साहस न होगा। परन्तु मैं उसे दिखा दूंगा कि सचाई में कितना बल है। इसके सामने लक्ष्मी और प्रतिष्ठा दोनों सिर नहीं उठा सकतीं।

इतने में पालकी प्रमदा के मकान के सामने से गुजरी। जगतसिंह का हृदय धडकने लगा। पुराने दिनों की स्मृति मस्तिष्क में करवटें बदलने लगी। आँखो में पानी आ गया। सहसा वह छत पर दिखाई दी। जगतसिंह की आँखें उसकी आँखों से मिलीं। प्रमदा की आँखो में दिल रखा था। जगतसिंह की आँखो ने उनमें एक सँदेसा पढ़ा। उस सँदेसे में कैसा दुःख था, कैसी खुशामद। जैसे कटोरी में अधिक जल डाला जाये, तो छलक जाता है, वैसे ही प्रमदा का दु.ख और खुशामद आँखों से बाहर छलक रहे थे। जगतसिंह का हृदय काँप गया। उन्हें ऐसा जान पडा, जैसे वह कह रही है, मेरी लाज तुम्हारे हाथ है। वह दरबार की घटना सुन चुकी थी। उसे विश्वास था, कि जगतसिंह जो कुछ कह देंगे, वही सत्य माना जायगा। महाराणा को उनपर अटल विश्वास था। उन्हें स्वप्न में भी यह विचार न था कि जगतसिंह झूठ बोल सकते हैं। वह उन्हें इस विषय में देवता समझते थे। परन्तु प्रमदा को सन्देह था, कि कहीं सापत्नय द्वेष से जगतसिंह जयसिंह की प्रतिष्ठा धूल में न मिला दे। जगतसिंह ने अपने घायल शरीर को धीरे से हिलाया गोया पूछा,—"क्या कहती हो?"

प्रमदा ने चारो ओर देखा। सारा नगर दरबार में था। आस पास कोई देखनेवाला समीप न था। तब उसने हाथ बांधे और आंखो के आंसू गोरे गालो पर बहाकर कहा, "परमात्मा के लिए जो कहना, सच कहना।"

वह भी जयसिंह को ऐसा कायर न समझती थी, कि युद्ध-क्षेत्र से प्राण बचा कर भाग निकला होगा। और अब झूठ बोलता होगा।

जगतसिंह सब कुछ समझ गये। उनके होठों पर मुस्कराहट की एक रेखा सी आ गई। उन्होंने अपना निर्बल हाथ उठाया और उसके इशारे से प्रमदा को धीरज देते हुए बोले,—"व्याकुल न हो। मैं तुम्हारे लिए इससे भी अधिक कर दिखाऊँगा।"

हृदय की थाह किसने पाई है? जगतसिंह ने अपना विचार वदल

लिया। प्रमदा के लिए उन्होंने अपने प्रेम का गला दबाया था, अब उसीके लिए अपनी कीर्ति लुटाने को तैयार हो गये। जो काम मेवाड के सारे सिपाही न कर सकते थे, वह एक स्त्री की करुणा-दृष्टि ने कर दिया। सोचने लगे, मैं मर रहा हूँ। मुझे कीर्ति मिले या न मिले, बराबर है। परन्तु मैं प्रमदा का जीवन क्यों खराब करूँ। जयसिंह की इस नीचता और कायरता से उसका दिल टूट जायगा, उसका सुख उजड़ जायेगा। मैंने उससे प्रेम किया है, क्या अब उसके लिए थोड़ा सा त्याग न करूँगा। त्याग प्रेम की परीक्षा है। बलिदान प्यार की कसौटी है। मैंने पहले भी बलिदान किया है, अब भी बलिदान करूँगा।

पालकी दरबार में पहुँची। चारो ओर शोर मच गया। लोग कहते थे, देखें ऊँट किस करवट बैठता है? जयसिंह का मुख अस्त होते हुए सूर्य्य की नाईं लाल था। सोचता था, मेरी कीर्ति की संध्या आ पहुँची। वह चाहता था, यदि अवसर मिले तो दरबार से निकल जाये, और फिर कभी किसी को अपना मुँह न दिखाये। दिल में कहता था, अगर जगतसिंह ने सच कह दिया तो आँखें न उठेंगी, सारे मेवाड़ में बदनाम हो जाऊँगा, महाराणा साहब दरबार से निकाल देंगे और कदाचित् इससे भी अधिक दण्ड दें।

(५)

महाराणा साहब सिंहासन से उतरे और जगतसिंह की पालकी के समीप आये। दोपहर के समय आधी रात का सन्नाटा छा गया। लोगो के दम भी रुके हुए थे। कोई खाँसता न था, न कोई जोर से साँस लेता था। सचाई का पर्दा उठनेवाला था, परन्तु सबसे अधिक चिन्ता दो मनुष्यों को थी। दरबार में जयसिंह को, नगर में प्रमदा को। महाराणा साहब आगे बढे और देश जाति के सच्चे भक्त पर झुक गये। जगतसिंह ने हाथ बाँधकर प्रणाम किया और कहा–"महाराज की जय हो।"

महाराणा ने अपना हाथ जगतसिंह के सिर पर फेरा और प्रेम से कहा,—"तुम्हें घायल देखकर हमें दु:ख हुआ।"

जगतसिंह ने धीरे से उत्तर दिया,--यह घाव मेरे भूषण हैं, मैंने इन्हें भारत-माता की सेवा करते हुए पाया है। परन्तु, मेरे शरीर से भी अधिक घायल मेरा हृदय है, और वह घाव मुझे इन घावों से भी प्यारा है। मुझे उसपर मान है। मुझे उसपर गर्व है।"

महाराणा साहब चौंक पडे। जगतसिंह के हृदय पर कौन सा घाव लगा है, यह वह न जानते थे। वह जगतसिंह और प्रमदा के प्रेम से अपरिचित थे। उन्हें सन्देह होने लगा, कि जयसिंह ने झूठ बोला है, और जगतसिंह इसी घटना की ओर इशारा कर रहा है। इस समय रामसिंह का मुख-मण्डल चमक रहा था। वह सोचता था, सच्चाई जाहिर होनेवाली है।

महाराणा ने पूछा, "तो क्या जयसिंह सचमुच युद्ध-क्षेत्र से भाग निकले थे?"

दरबार का सन्नाटा और भी गहरा हो गया। लोगो के कान इधर ही लगे हुए थे, जैसे यह उनके जीवन और मृत्यु का प्रश्न हो। जगत-सिंह ने कुछ देर सोचा और फिर निश्चय करके उत्तर दिया,--"यह उन पर झूठा कलक लगाया गया है। वह युद्ध से कभी नहीं भागे।"

सारे दरबार में शोर मच गया--"जयसिंह की जय," "सिपहसालार की जय" के जयकारो ने आकाश हिला दिया। यह जयकारे सुन कर जगतसिंह को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसीने उसे उठाकर आग में झोक दिया है। वह प्रमदा के लिये झूठ बोलने पर तैयार हो गये थे मगर जयसिंह की प्रशसा के जयकारे उन्हें जहर के घूंट मालूम हुए। उस समय उन्होंने सच्ची बात कहने का यत्न किया, परन्तु शब्द उनके कण्ठ में फँस गये; जिस प्रकार रामसिंह का हृदय से निकला हुआ आनद उसके हृदय ही में अटक गया था। उनको लोगो की जय-ध्वनि ने रोक लिया था। रामसिंह जगतसिंह के असत्य भाषण से सटपटाकर रह गया था, परन्तु उसके हृदय में जगतसिंह का सम्मान कई गुना बढ गया था। महाराणा साहब सिंहासन पर चढ गये, और उँगली

से जयसिंह की ओर इस प्रकार संकेत करके जैसे कोई जादूगर लोगों पर प्रभाव डालता है, एक एक शब्द पर जोर देकर बोले—"जयसिंह विजयी है, उसने देश की जो सेवा की है उसका बदला तो नहीं दिया जा सकता, तथापि कृतज्ञ होकर मैं उसे राजकुमारी ब्याह दूंगा।"

"जयसिंह की जय" के जयकारे फिर वायुमण्डल में गूंजने लगे। रामसिंह की सिसकियाँ इन जयकारों में डूब गईं। उसकी आँखों में आँसू थे, परन्तु उनकी ओर किसी का ध्यान न था। वह इस समय मूर्च्छित हो गये। उन्होंने महाराणा की आवाज न सुनी।

रात को जयसिंह का राज-कुमारी के साथ ब्याह हो गया।

(६)

प्रमदा ने यह सुना तो सन्नाटे में आ गई। उसे यह आशा न थी। जयसिंह के थोड़े दिनों के प्रेम ने उसे विश्वास दिला दिया था कि वह उसे हृदय की तह से प्यार करता है। प्रतीक्षा के दिन उसने जिस प्रकार व्यतीत किये थे यह वही जानती थी। जयसिंह की वापसी पर वह ऐसी प्रसन्न थी, जैसे उसे राजगद्दी मिल जानेवाली हो। परन्तु उसे क्या पता था, कि आशा निराशा में और सुख-दुःख में बदला जायेगा, और उसका जीवन निरंतर असफलताओं की कड़ी बन जायेगा। यह समाचार सुनकर वह शून्य-सी हो गई, मानों फूल की शाखा पर बिजली गिर पड़ी हो। इस आघात से उसकी प्रकृति बहुत दिनों तक न सँभल सकी; दिन-रात रोती रही।

तब उसे जगतसिंह याद आये। सोचने लगी मैंने जो व्यवहार जगतसिंह से किया था, वही जयसिंह ने मुझसे किया है। यह प्राकृतिक-नियम है। रूप रंग और पदवी देखकर रीझ गई थी, पर इसमें यह गुण भरे होंगे, यह ज्ञान न था। धीरे-धीरे जगतसिंह का सोया हुआ प्रेम उसके हृदय में जागने लगा, जिस तरह क्रोध उतर जानेपर मनुष्य पर सचाई प्रकट होने लगती है। उस समय वह कैसा दुखी होता है, कितना व्याकुल होकर अपने आपपर झुंझला उठता है।

यही दशा प्रमदा की थी। एक दिन जगतसिंह के पुराने पत्र पढने बैठी, गुजरा हुआ समय आँखो तले फिर गया। कैसे दिन थे, जिनमें वर्तमान का विश्वास न था, परन्तु भविष्य की मोहिनी से भरपूर थे। मनुष्य वर्तमान काल की असफलताओ और कष्टो पर सतोष कर सकता है, परन्तु आनेवाले दिनो को सुन्दर दृश्य से शून्य नहीं देख सकता। प्रमदा का वर्तमान और भविष्य दोनो अन्धकारमय थे। तब वह बीते हुए दिनो की ओर दौडती, परन्तु उन्हें पाना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। हारकर जगतसिंह के पत्र पढने में मग्न हो जाती, और उसके चिन्तन में अपने दु.खो को डुबा देती।

परन्तु वह जानती न थी, न जानना चाहती थी कि भविष्य भूत का बेटा है। जहाँ भूत है वहाँ भविष्य का होना निश्चित है और यह प्राकृतिक नियम ऐसा है कि जिसे संसार भर की शक्तियाँ मिलकर भी नहीं तोड़ सकतीं। होते-होते भूतकाल के बारीक परदे में मनोहर भविष्य अपना प्रकाशमय पुंज दिखाने लगा, जैसे कुहरा के मिट जानेपर आँखो से ओझल हुए मक़ानो की चोटियाँ दिखाई देने लगती है। प्रमदा की प्रकृति सँभल गई, सोचा मैं उनसे क्षमा माँग लूँगी। प्यार ने बलिदान किया था, क्या अब क्षमा न करेगा?

संध्या-समय था। प्रमदा नगर से बाहर नदी-तट पर पहुँची। यह वही स्थान था जहाँ उससे और जगतसिंह से कई-कई घण्टे प्रेम की बातें हुआ करती थीं। जहाँ लज्जा मुस्कराती थी, कामुकता ओट में खडी देखती थी और हँसती थी। जहाँ जगतसिंह के मर्दाना कहकहे गूंजते थे। जहाँ उन्होंने प्यार के बीज बोये थे, प्रीति की प्रतिज्ञायें की थीं; स्नेह की सौगन्धें खाई थीं। आज वह समय किधर गया? प्रमदा की आँखो में आँसू आ गये।

सहसा दूर से कुछ लोग आते दिखाई दिये। प्रमदा का कलेजा घडकने लगा, हृदय में शकायें उठने लगीं। वह आदमी निकट आए तो प्रमदा की आँखें आश्चर्य, दु:ख, और लज्जा से खुली रह गई—यह

जगतसिंह की अर्थी थी। उसे प्रेम का जीवन प्राप्त न हुआ था, परन्तु उसने प्रेम की मृत्यु मरकर अपनी कसर पूरी कर ली। प्रमदा पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

जब उसे सुध आई, उस समय उसके माता-पिता उसके सामने बैठे थे। उसे होश में देखकर वह बहुत प्रसन्न हुए। मा ने पूछा—"क्यों बेटी! अब क्या हाल है?"

प्रमदा ने करवट बदलकर उत्तर दिया—"अब तो अच्छा है?"

"और यह तुझे हुआ क्या था? क्या कोई रोग है?"

प्रमदा ने सिराहना खींचकर अपनी गोद में रख लिया और चारपाई पर बैठ गई। इसके बाद कुछ विचित्र-सी दृष्टि से जिसमें लज्जा, पश्चात्ताप, निराशा और पागलपन के लक्षण दिखाई देते थे, माता और पिता दोनों की ओर बारी-बारी से देखा और फिर एक बार जल्दी से यह शब्द कह गई—

"वह मर गये हैं और उनके साथ मेरा प्रेम भी मर गया है। अब इस संसार में मेरे लिए क्या रखा है? मैं यहाँ न रहूँगी। तुम मुझे कुछ न कहो।"

आधी रात को जब संसार निद्रा के सागर में डूबा हुआ था, प्रमदा ने अपने घर का दरवाजा खोला और धीरे-धीरे नगर से बाहर निकल गई।

इसके बाद उसे किसी ने नहीं देखा।

प्रबला

[नाटक]

पात्र —मूलराज—जैसलमेर के महाराज।

रायसिंह—जैसलमेर के राजकुमार।

अनूपसिंह—जैसलमेर के सेनापति।

जोरावरसिंह—अनूपसिंह का लडका।

प्रबला—अनूपसिंह की बहादुर स्त्री।

ईरा—अनूपसिंह की बहन।

पहला दृश्य

जैसलमेर के सेनापति का घर।

समय सध्या।

(प्रबला और ईरा।)

प्रबला—तीन महीने बीत चुके, और अभी तक महाराज बन्दीगृह में हैं। वे दिल में क्या कहते होंगे? सोचते होंगे, मेरी प्रजा मुझे भूल गई। सब विद्रोहियों के साथ मिल गये, मेरी चिन्ता किसी को नहीं। मेरा किसी को ख्याल नहीं आता।

ईरा—और बिलकुल निर्दोष हैं।

प्रबला—बिलकुल निर्दोष, सिवा इसके कि उन्होंने भूल से एक ऐसे व्यक्ति को मत्री नियुक्ति कर दिया, जो इस महान् पद के योग्य न था।

ईरा—परन्तु वह तो कभी का मारा जा चुका है। फिर अब महाराज को कैद रखने की क्या जरूरत है?

प्रबला—जिन लोगों ने मत्री का वध किया है, उनको डर है, कि महाराज उनसे इस उपद्रव का उत्तर माँगेंगे और जो संतोष-जनक उत्तर न दे सकेंगे, उनको सख्त सजा देंगे।

ईरा—और सचमुच महाराज ऐसे विद्रोहियो को कभी क्षमा न करेंगे। यह उनके स्वभाव के विरुद्ध है।

प्रवला—और उनका लडका रायसिंह भी उनका विरोध करता है।

ईरा—कौन कहता है?

प्रवला—मैंने हर किसी से यही सुना है। सब लोग यही कहते है।

ईरा—मगर यह झूठ है। रायसिंह अपने पिता के वियोग में हर समय घबराया रहता है। उसकी सजल आँखों से उसके उदास चेहरे से, उसकी बावलो की सी बातो से साफ प्रकट होता है, कि उसका दिल इस शोक में विह्वल रहता है। वह अभी तक खाट पर बैठकर काम करता है। अर्थात् वह अपने आपको युवराज समझता है, राजा नहीं समझता। वह महाराज के लिए व्याकुल है।

प्रवला—मैंने यह बात आज से पहले कभी नहीं सुनी थी।

ईरा—महाराज की इस विपत्ति में राजकुमार का कोई भाग नहीं है।

प्रवला—अगर यह बात सच है, तो वह महाराज को छुड़ाने का यत्न क्यो नहीं करता?

ईरा—उसे अभी तक मालूम नहीं, कि महाराज कहाँ कैद है। अगर मालूम हो जाता, तो वह जैसलमेर की ईंट से ईंट बजा देता, अपने देश के एक-एक सिपाही को निछावर कर देता, अपने जीवन और स्वाधीनता दोनो की परवा न करता, और जैसे भी होता, महाराज को छुडा लेता।

प्रबला—अच्छा बहन! मुझे यह तो बताओ, कि अब राजकुमार भी महाराज के पक्ष में है, और प्रजा भी महाराज को चाहती है, तो फिर ऐसा कौन आदमी है, जो महाराज को कैद रख सके। मेरे विचार में तो ऐसा साहस जैसलमेर के किसी आदमी को नही हो सकता।

ईरा—हो सकता है, प्रबला! हो सकता है।

प्रबला—(आश्चर्य से) किसे?

ईरा—जाने दो इन बातो में क्या धरा है? हम स्त्रियाँ है। हम घर के अन्दर रहती है। हमको राज्य के कामों से कोई सम्बन्ध नहीं।

प्रबला---ईरा! तुमसे यह किसने कहा है कि हमारा काम घर के अन्दर और केवल घर के अन्दर है, और हमको राज्य के कामो से कोई संबन्ध नही?

ईरा--सारी दुनिया यही कहती है। मैंने हर स्त्री और हर पुरुष के मुंह से यही सुना है, और इसका कोई प्रतिवाद नहीं करता।

प्रबला---परन्तु यह ठीक नही है।

ईरा--ठीक नहीं है? क्या मतलव?

प्रबला--मतलब यह कि हमारा काम घर के अन्दर है। मगर किस समय? जब हमारे देश में शान्ति हो, जब हमारी जाति को किसी तरह का कोई भय न हो, जब हमारी जन्म-भूमि उन्नति और अभ्युदय के रोशन रास्ते में आगे बढी जा रही हो। उस समय निस्सदेह हमारा काम यही है कि हम अपनी सारी शक्ति, सारी प्रतिभा, और सारी विद्या अपने घर की उन्नति के लिए समर्पण कर दें। परन्तु जब हमारा राजा विपत्ति में फँसा हो, जब हमारे देश पर विनाश की काली घटा छा रही हो, जब हमारा भविष्य अनिश्चित हो, उस समय हमारा काम ही नहीं, बल्कि धर्म है, कि हम अपने घर की शान और शान्ति को अपने देश के हित पर निछावर कर दें और घर से बाहर निकलें।

ईरा---घर से बाहर निकलें?

प्रबला--हमारा काम घर के अन्दर है, मगर किस समय? जब बाहर का काम हमारे वीर पुरुषो ने सँभाल रखा हो। परन्तु जब वह अपना धर्म न समझते हो, या न समझ सकते हो, तो हमारा धर्म है कि अपने घर के काम को लात मार दें, और बाहर की विशाल दुनिया और उसके युद्ध-क्षेत्र में प्रवेश करें, और अपने पुरुषो पर सिद्ध कर दें, कि हम जो घर के अंदर बद पडी रहती है, उनमें यह शक्ति भी है, कि उनकी भूल को सुधार सकें, और उन्हें कधो से पकडकर बता सकें कि तुम बड़ी भारी भूल कर रहे हो। तुम्हारा रास्ता यह है। तुम्हें इस रास्ते पर चलना चाहिए।

ईरा—तुम्हारी बातें अद्भुत हैं!

प्रबला—(शान्त होकर) तो मुझे बताओ, वह आदमी कौन है, जो महाराज और राजकुमार दोनों की परवा नहीं करता? मैं उसका नाम सुनूंगी।

ईरा—मैं स्त्री हूँ। मैं घर के अन्दर रहती हूँ। मुझे यह सब कुछ कैसे मालूम हो सकता है? जरा सोचो तो सही।

प्रबला—तुम झूठ बोल रही हो।

ईरा—यह बात मुझसे न पूछो, मैं न बताऊँगी।

प्रबला—ईरा!

ईरा—तुम्हें विश्वास न होगा।

प्रबला—मैं तुम्हारी हर एक बात मानने को तैयार हूँ।

ईरा—तुम नाराज हो जाओगी।

प्रबला—मैं राजपूतनी हूँ और राजपूतनी सच्ची बात पर कभी नाराज नहीं होती—तुम मेरी जाति का अपमान करती हो। बोलो वह कौन है। मेरा धीरज छूटा जा रहा है।

ईरा—मगर तुम्हें इससे कोई लाभ न होगा। इसलिए जिद न करो, और जो कुछ हो रहा है, होने दो।

प्रबला—मैंने निश्चय कर लिया है कि आज आधी रात से पहले पहल महाराज को छुड़ा लूँगी।

ईरा—यह कभी न होगा, यह कभी नहीं हो सकता।

प्रबला—यह जरूर होगा। यह राजपूतनी की प्रतिज्ञा है।

ईरा—मगर बहन! (नरमी से) वह आदमी तुम्हारा सगा संबन्धी है। इसलिए तुमसे कुछ न हो सकेगा।

प्रबला—(सोचते हुए) मेरा सगा संबन्धी है? मुझसे कुछ न हो सकेगा? ईरा? यह तुमने क्या कहा? बताओ वह कौन है? क्या वह मेरा पिता है?

ईरा—नहीं।

प्रबला—क्या मेरा देवर है? क्या मेरा भाई है? क्या वह मेरा मामा है?

ईरा—नहीं।

प्रबला—तो फिर कौन है? ओह ईरा! ईरा!! कहो वह कौन है? बताओ वह कौन है?

ईरा—वह (धीरे से) तुम्हारा पति है।

प्रबला—जो सुपने में भी न सोचा था, वह हुआ। मैं समझती थी, मुझे शक्ति से लडना होगा। और मुझे विश्वास था, मैं शक्ति से लड लूँगी। मगर यह आशंका न थी, कि मेरे सामने उनका प्रेम आकर खड़ा हो जायगा। स्त्री बल को जीत सकती है, परन्तु प्रेम और फिर वह भी पति का प्रेम—इससे सग्राम करने की हिम्मत दुनिया के किसी नारी-हृदय में न होगी। यहाँ आकर नारी बेबस हो जाती है।

ईरा—बहन प्रबला! तुम क्या सोचती हो? यह पुरुषो के काम हैं, वह आप कर लेंगे।

प्रबला—मगर ईरा! महाराज कैद हैं। हम लोग हँसते हैं, खेलते हैं, जो चाहते हैं, करते हैं। आजादी की नींद सोते हैं। आजादी की हवा में साँस लेते हैं, और वह, (ठण्डी सांस लेकर) पता नहीं उनका दिल क्या क्या कहता होगा? (थोडी देर बाद) ईरा!

ईरा—हाँ भाभी!

प्रबला—मैं तुमसे एक बात और पूछना चाहती हूँ। प्रतिज्ञा करो बताओगी ना?

ईरा—मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि तुमसे अब कोई बात न छिपाऊँगी।

प्रबला—महाराज कहाँ कैद है?

ईरा—इधर आओ। (खिडकी के सामने ले जाकर) वह देखो, सामने एक छोटा सा मकान है, जिसके दरवाजे पर एक सिपाही पहरा दे रहा है। हमारे महाराज वहीं कैद हैं।

प्रबला—इस मकान में? मेरे घर के पास? कदाचित् मुझे पहले पता होता, तो महाराज बहुत दिन पहले छूट चुके होते।

ईरा—मगर भाभी! यह काम इतना आसान नहीं, जितना आसान तुम समझ रही हो। कदम कदम पर दिक्कतें है।

प्रबला—जब स्त्री किसी काम का निश्चय कर ले, तो हर एक दिक्कत डरपोक जानवरों के समान परे भाग जाती है। आज आधी रात के बाद महाराज कैदखाने में न होगे। स्त्री स्वाभाविक रूप से विवश होती है? परन्तु जब कुछ करने पर उतारू हो जाये, तो शेरनी बन जाती है। उस समय उसके सामने कोई नहीं ठहर सकता। यहाँ तक कि जंगल के तूफान और आँधियाँ भी उससे पनाह माँगती है। (प्रस्थान)

ईरा—कैसी बहादुर स्त्री है? इस समय उसकी आँखों में कैसी ज्योति थी, मुँह पर कैसा तेज? मालूम होता था, यह वह प्रबला ही नहीं। अपने पति से इसे बहुत प्यार है। उसका नाम सुनकर बावली हो जाती है। उसके दर्शन से इसकी देह हरी हो जाती है। उसे चाहती है, समस्त हृदय से प्यार करती है, उसके बिना रह नहीं सकती। और अब उससे लड़ेगी, उसके प्यार से लडेगी! विश्वास नहीं होता। स्त्री की आग पति के प्रेम के सामने पानी हो जायगी—स्त्री कुछ नही कर सकेगी। पति मुस्कराकर जीत जायेगा। (प्रस्थान)

(एक तरफ से प्रबला सिपाहियो के लिवास में आती है,
दूसरी ओर से जोरावरसिंह आता है।)

जोरावरसिंह— (पहचानकर) अरे यह कौन सिपाही है, जो हमारे महल में आन घुसा है इस दिलेरी से?

प्रबला—(मुस्कराकर) मेरा नाम प्रबलसिंह है।

जोरावरसिंह—तो भाई प्रबलसिंह! यह तुमने हथियार क्यों पहने है? आज-कल कोई लड़ाई तो नहीं हो रही? और अगर हो रही है, तो मुझे बता दे, ताकि मै भी तैयार हो जाऊँ? मै पीछे न रहूँगा। मै भी सिपाही हूँ। लड़ने-भिडने का मुझे भी शौक है। मरने-मारने से मै भी नहीं डरता।

प्रबला—(जोरावरसिंह से) छोटे सिपाही! क्या तुझे भी लड़ने-भिड़ने का शौक है?

जोरावरसिंह—अजी जनाब! जब मैं सिपाही हूँ, तो मुझे लड़ने-भिड़ने का शौक क्यों न होगा?

प्रबला—(कंधे पर हाथ धरकर) मगर तू अभी छोटा है ना, इसलिए मैंने सोचा कि—

जोरावरसिंह—तो फिर क्या हुआ? छोटा काँटा तो ज्यादा तेज है। छोटी सुई ज्यादा नुकीली होती है। इसी तरह छोटा सिपाही ज्यादा बहादुर होता है।

प्रबला—(हँसकर) तो छोटे सिपाही! ले सुन!! वह जो सामने मकान दिखाई देता है, उसमें महाराज मूलराज कैद है।

जोरावरसिंह—अच्छा! फिर?

प्रबला—मैं उन्हें छुडाने जा रहा हूँ।

जोरावरसिंह—वहाँ लड़ाई होगी क्या?

प्रबला—जरूर होगी।

जोरावर—वहाँ खतरा है क्या?

प्रबला—जरूर होगा!

जोरावर—और तुमने यह हथियार इसीलिए पहने हैं?

प्रबला—हाँ, मेरे बहादुर सिपाही! इसीलिए।

जोरावर—(गम्भीरता से) तुम्हारे पास तलवार है या नहीं? अगर है, तो म्यान से बाहर निकालो।

प्रबला—परन्तु क्यो?

जोरावर—पहले अपने पुत्र का सिर काट लो, इसके बाद तुम घर से बाहर पाँव रखना।

प्रबला—अरे! यह छोटा सिपाही तो बडा बहादुर निकला!

जोरावर—मा! अन्दर जाओ! यह कपडे उतार दो! तलवार मुझे दो, तुम्हारी आज्ञा का पालन मैं करूँगा। तुम मा हो, मा बनके रहो। लड़ना हमारा—हम मर्दों का काम है।

प्रबला—और हम स्त्रियों का क्या काम है?

जोरावर—स्त्रियों का काम प्यार करना है।

प्रबला—(प्रेम-भरी दृष्टि से देखकर) जीता रह। बेटा! जीता रह। तेरी मा तुझे आशीर्वाद देती है। मगर अभी तू छोटा है इसलिए—

जोरावर—मगर मेरा दिल छोटा नहीं है। मैं तुम्हारा पुत्र जीता हूँ, और तुम मा हथियार पहनकर बाहर निकलो, यह मुझसे सहन न होगा। (तलवार छीनकर) यह मुझे दो, और तुम अंदर जाकर बैठो। अभी राजपूत इतने निर्लज्ज नहीं हुए—अभी जोरावरसिंह, तेरा बेटा जीता है। अभी तेरे बेटे की वीरता जीती है।

प्रबला—आग की ज्वाला को जलना किसने सिखाया है? सिंह के बच्चे को बहादुरी का पाठ कौन पढ़ाता है? मेरा पुत्र जन्म से सूरमा है, मैं धन्य हूँ। मेरा दूध सफल हुआ। बेटा जा, यह तेरी पहली परीक्षा है। विजय-पताका लहराता हुआ वापिस आ। तेरी मां तेरी राह देखेगी।

जोरावर—(एकाएक उदास होकर) मगर मा!

(जोरावरसिंह सिर झुका लेता है।)

प्रबला—क्यों बेटा! तू उदास क्यों हो गया?

वह जो पहरेदार है ना, मैं तो उसे मार गिराऊंगा, पर जब पिताजी सामने आ जायें, तो फिर क्या करूँ?

प्रबला—उनकी एक न सुनना।

जोरावर—मगर वह पिता है। उनकी एक न सुनूंगा, तो वह गुस्से होंगे।

प्रबला—और मैं माँ हूँ। तुझे मैंने पाला है। तुझे मैंने खिलाया है। तेरे लिए दुःख मैंने सहे हैं। इस समय तेरे हाथ में तलवार मैंने दी है। इसलिए तुझे मेरी बात माननी चाहिए। और मैं कहती हूँ तू उनकी एक न सुनना।

जोरावर—और अगर वह लड़ने को तैयार हो जायें, तो फिर क्या करूँ मैं?

प्रबला—यही तलवार उनके सीने में घोंप देना।

जोरावर—मा—

प्रबला—बस, बस! मैं और कुछ नहीं सुनना चाहती। यह मेरी आज्ञा

है, तुझे इसका पालन करना होगा। नहीं तो मैं तुझे शाप दूँगी; और पुत्र को मा के शाप से बचानेवाली शक्ति इस असार ससार में कहीं नहीं है।

जोरावर—बहुत अच्छा! पुत्र मा की आज्ञा का पालन करेगा। मगर, मा सोच ले, तेरा हुक्म—

प्रबला—मैंने सोच लिया है।

जोरावर—मगर इसका परिणाम? अगर पिताजी—

प्रबला—मगर बेटा! वह सिर्फ तेरे ही पिता नहीं, मेरे भी कुछ हैं। उनके दुःख से मुझे भी दुःख होता है। स्त्री के हृदय में पति की जो श्रद्धा होती है, और होनी चाहिए, उससे मैं वंचित नहीं हूँ। परन्तु राजा के जो अधिकार प्रजा पर हैं, मैं उनकी तरफ से भी आँखें बन्द नहीं कर सकती। भारत-ललना पति पर निछावर हो सकती है, पुत्र के लिए सारा जीवन दुःख में बिता सकती है। परन्तु अपने राजा के लिए जो स्त्री अपना सर्वस्व छोड़ नहीं सकती वह अपने देश से विद्रोह करती है—और यह पाप मुझसे कभी न होगा। यह मेरे स्वभाव में नहीं है।

जोरावर—तो अगर पिताजी मेरे हाथ से—

प्रबला—(काँपकर) उस समय भी मैं अपना धर्म न छोड़ूँगी, और उनके साथ सती हो जाऊँगी। यह प्रजा का धर्म्म है, वह पत्नी का धर्म होगा। मैं दोनों को पूरा करूँगी।

जोरावर—मेरी मा कितनी बहादुर, कैसी निर्भय है? उसके पुत्र का मुकाबला करना आसान नहीं। मा! तुम यह मर्दाना कपडे उतार दो, महाराज मूलराज को मैं छुड़ाऊँगा।

(जोरावरसिंह तलवार खींचकर चला जाता है।)

प्रबला—परमात्मा! मेरे स्वामी की और मेरे पुत्र की रक्षा कर। मगर इससे भी पहले मेरे महाराज की रक्षा कर। मेरे लिए महाराज पति और पुत्र से भी बढ़कर हैं।

दूसरा दृश्य

राजकुमार रायसिंह का महल।

समय—वही सध्या।

(अनूपसिंह और रायसिंह बातें कर रहे हैं।)

रायसिंह— मेरे ख्याल में यह आपकी भूल है।

अनूपसिंह— नहीं राजकुमार! यह मेरी भूल नहीं है। क्या आपको याद नहीं, कि जब आपने मन्त्री पर आक्रमण किया था, तो महाराज की आँखें अग्निमय हो गई थीं। इसके बाद जब मन्त्री ने महाराज के पीछे छिपकर जान बचाने की चेष्टा की, उस समय भी महाराज ने उसकी रक्षा की थी। और यदि आपकी तलवार जरा भी इधर-उधर हो जाती, तो मन्त्री की जगह वह आप मारे जाते।

रायसिंह— यह सब सच है। मगर जब मंत्री कत्ल हो चुका है, उसके सहायक अपनी जान छिपाते फिरते है, और अब उसकी कोई चर्चा नहीं करता, तो अब महाराज को कैद रखना निष्फल है। अब उन्हें छूट जाना चाहिए।

अनूपसिंह— महाराज के छूटते ही मुकदमा शुरू हो जायगा और हर व्यक्ति को जो इस मामले में शामिल था, दण्ड मिलेगा। और यह ऐसी बात है, जिससे सोता हुआ झगडा फिर जाग उठेगा, और देश में अशान्ति फैल जायेगी।

रायसिंह— मगर महाराज को इससे क्या लाभ होगा?

अनूपसिंह— इस बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता, मगर राज दरबार के सारे सरदारो का यही ख्याल है।

रायसिंह— यह उनकी भूल है। महाराज ऐसा कभी न करेंगे।

अनूपसिंह— खुद आप भी इस खतरे से बाहर नहीं।

मैं! (आश्चर्य से) मैं! क्या महाराज मुझे भी दण्ड देंगे? सेनापति! यह तुम क्या कह रहे हो?

अनूपसिंह– जो कह रहा हूँ, ठीक कह रहा हूँ। मैं उनका स्वभाव अच्छी तरह जानता हूँ, और देर से जानता हूँ।

रायसिंह– पिता अपने पुत्र को दण्ड देगा? (सोचकर) नहीं, यह नहीं होगा, यह नहीं हो सकता।

अनूपसिंह– यह हो सकता है, यह जरूर होगा।

रायसिंह– सेनापति! वे मुझे बहुत चाहते हैं–मैं उनका बेटा हूँ।

अनूपसिंह– परन्तु राजकुमार! महाराज हैं, और महाराज जब न्याय के सिंहासन पर बैठते हैं, तो उनकी आँखों में अपना पराया सब एक समान होता है। वे किसी की रिआयत नहीं करते।

रायसिंह– और मैंने मंत्री को अपने हाथ से कत्ल किया है।

अनूपसिंह– इसलिए सबसे अधिक भय आप ही को है, और आप ही का खयाल है, जो मेरा रास्ता रोक लेता है, नहीं तो मैं जरूर यत्न करता, कि महाराज बहुत जल्द छूट जायें।

रायसिंह– (चिन्तित भाव से) तो इसका यह अर्थ है कि महाराज–

अनूपसिंह– अभी कुछ देर और कैद रहें।

रायसिंह– पर कितनी देर? आखिर कोई हद होनी चाहिए। तीन महीने बीत चुके हैं, मैं बाहर स्वाधीन हूँ, और वे कैदखाने में . (आँखें सजल हो जाती हैं।)

अनूपसिंह– मगर वे बूढ़े हैं। उन्होंने बहुत शासन कर लिया है। अब उनका जीवन कब तक

रायसिंह– (बात काटकर) बस सेनापतिजी! जरा सोच-समझकर! पिता के सम्बन्ध में कोई ऐसा कटु वचन न कह जाना, जिसे पुत्र का गर्म लहू सहन न कर सके।

अनूपसिंह– राजकुमार मेरा अभिप्राय यह था, कि अब महाराज शासन का भार अपने आप आपके कंधे पर रख देंगे।

रायसिंह–हूँ; (कुछ सोचने के बाद एकाएक चौंककर) देखिए, अब मैंने निश्चय कर लिया है, कि चाहे कुछ भी क्यों न हो जाय, महाराज आज आजाद हो जायँगे। वे मेरे पिता हैं–मैं उनके हाथ से हर-एक सजा भुगतने को तैयार हूँ।

अनूपसिंह– मगर हम आपके सेवक यह कैसे देख सकेंगे? महाराज। कुछ सोचिए तो सही।

रायसिंह– सब सोच चुका।

अनूपसिंह– देश में फसाद हो जायगा।

रायसिंह–मैं तलवार लेकर पहले फसाद मिटाऊँगा, फिर महाराज को सिंहासन पर बैठाकर अभियुक्त के समान उनके सामने हाजिर हो जाऊँगा और कहूँगा मैं हाजिर हूँ, मुझे सजा दीजिए।

अनूपसिंह– यह आप क्या कह रहे हैं?

रायसिंह– वे मेरे पिता हैं, मैं उनका पुत्र हूँ। उनकी क़ैद का खयाल मुझे हर समय दुःखी रखता है। कहिए! वह कहाँ क़ैद हैं मैं अभी जाकर उनको बाहर लाता हूँ। मुझे राजसिंहासन, ताज, शासन और किसी वस्तु की कोई इच्छा नहीं, मुझे केवल उनका खयाल है। मैं उनकी रिहाई चाहता हूँ।

अनूपसिंह– तो आपने यही निश्चय किया है?

रायसिंह– यही! मैं और कोई युक्ति नहीं सुनना चाहता।

अनूपसिंह–बहुत अच्छा! महाराज कल क़ैदखाने से बाहर होंगे।

रायसिंह–मुझे खुशी हुई।

अनूपसिंह–कोई और आज्ञा?

रायसिंह–सारे सरदारों से कह दो, कि उनके स्वागत के लिए तैयार हो जायँ। मैं उनके क्रोध की अग्नि को प्रेम और विनय के ठण्डे जल से सर्द कर दूँगा।

अनूपसिंह–सारे सरदार कल इस समय से पहले पहले जैसलमेर से बाहर चले जायँगे।

रायसिंह–आप उनको रोकेंगे।

अनूपसिंह–मैं स्वयं उनके साथ हूँगा।

रायसिंह–(खड़े होकर) यहाँ तक मजाल!

अनूपसिंह–यहाँ पुराना महाराजा आयेगा, पर पुराने सरदारों में से एक भी यहाँ न होगा। सब देश से बाहर होंगे।

रायसिंह–आप मुझे धमकाना चाहते हैं?

अनूपसिंह–मैं यह शब्द कभी न कहूँगा। मैं आपका सेवक हूँ। आप मेरे राजकुमार हैं।

रायसिंह–जैसलमेर रहे या नष्ट हो जाय, मगर महाराज क़ैद न रहेंगे। बोलो! वे कहाँ कैद हैं?

अनूपसिंह–वे कल संध्या के समय आजाद होंगे।

रायसिंह–मैं कल प्रतीक्षा नहीं कर सकता। मैं उन्हें आज आजाद देखना चाहता हूँ। बोलो, वे कहाँ कैद हैं?

अनूपसिंह–यह मुझसे इस समय न पूछिए।

रायसिंह–(एक एक शब्द पर जोर देकर) बताओ। वे कहाँ कैद हैं? मैं जैसलमेर का महाराजा तुम्हें हुक्म देता हूँ।

अनूपसिंह–महाराज.... .. ।

रायसिंह–तो गोया तुम इनकार करते हो? अब जैसलमेर का महाराजा अपने नौकरों के हाथ में कठपुतली बनकर रहेगा? ओह! यह नहीं सहा जाता। सेनापति!

अनूपसिंह–महाराज! यह (तलवार फेंककर) तलवार लीजिए, और मेरा सिर काट दीजिए। मैं मरने के लिए तैयार हूँ।

रायसिंह–तुम मरने को तैयार हो, मगर तुम यह न बताओगे, कि महाराज कहाँ हैं?

अनूपसिंह–जब तक सारे सरदार जैसलमेर की सीमा से बाहर नहीं निकल जाते, उस समय तक उस जगह का पता आकाश के देवताओं को भी न लगेगा। यह असम्भव है।

रायसिंह–(हैरानी से) असम्भव!

अनूपसिंह–यह मेरा धर्म है।

रायसिंह–क्या मतलब?

अनूपसिंह–हमने षड़यन्त्र किया था, और षडयन्त्र अपराध है। परन्तु अब उससे भी बड़ा अपराध न करूँगा। मैंने उनसे प्रतिज्ञा की थी, कि महाराज के छूटने से पहले उन्हें सूचना देकर बचाव का मौका दे दूँगा, और मैं इसे पूरा करूँगा। प्राण दूँगा, प्रण न दूँगा। आप मुझे क्षमा करें। मैं आपका सेवक हूँ।

रायसिंह–बहुत अच्छा! कल ही सही........तो अब इस समय आप जा सकते हैं। मगर कल याद रहे। मैं और इतजार नही कर सकता।)

अनूपसिंह–राजकुमार की जय हो! (अनूपसिंह सिर झुकाकर चला जाता है।)

रायसिंह–सब सरदार चले जायँगे, सेनापति भी चला जायेगा, तो जैसलमेर का क्या बनेगा? खैर देखा जायगा। कदाचित् मुझे मालूम हो जाये, कि महाराज कहाँ क़ैद हैं, तो जैसलमेर इस विपत्ति और विनाश से बच सकता है! सरदारो को भय है कि महाराज उनको सख्त सजायें देंगे। उन्होंने महाराज की सेवा में अपने सिर के बाल सफेद किये हैं, परन्तु उनके स्वभाव को आज तक नहीं पहचाना। अगर पहचानते, तो महाराज से इस तरह न डरते। अगर पहचानते, तो आज यह कठिनाई मेरे सामने उपस्थित न होती। अगर किसी तरह मुझे मालूम हो जाय कि वे कहाँ कैद हैं, तो मैं अभी जाकर उन्हें रिहा कर दूँ। कोई मुझे बता दे कोई मुझे पता दे, मैं उसे मुँह-माँगा इनाम देने को तैयार हूँ। (किसी के पाँव की चाप) कौन है?

(एकाएक प्रबला सिपाहियो के वेष में प्रवेश करती है)।

प्रबला– आपकी तुच्छ प्रजा–जैसलमेर की एक स्त्री।

रायसिंह–(पहचानकर) माता प्रणाम! आप इस तरह–इस मर्दाना लिबास में!

प्रबला– मैं तुम्हें वह जगह बता सकती हूँ।

रार्यासह–जहाँ महाराज बन्द है?

प्रबला– मगर मैं मुँह-माँगा इनाम लूँगी।

रार्यासह– मैं सब कुछ दूँगा।

प्रबला–तो उठो! हथियार पहनो, और मेरे महल के सामने जो छोटा सा मकान है, उसके दरवाजे पर जल्द से जल्द पहुँच जाओ।

रार्यासह––वहाँ क्या है?

प्रबला––जोरावरसिंह कुछ सिपाहियो को साथ लेकर वहाँ गया है, ताकि महाराज को छुडा लाये। मगर वह अभी छोटा है; मैं उसकी सहायता को जा रही हूँ।

रार्यासह––मगर सेनापति ––

प्रबला––(बात काटकर) शायद उनकी तलवार अपने पुत्र और पत्नी के विरुद्ध न उठेगी।

रार्यासह––माता! तू अपने आपको खतरे के मुँह में डाल रही है।

प्रवला––राज-भक्ति बच्चों का खेल नहीं है।

रार्यासह––परन्तु सम्भव है कि––

प्रबला––तुम चिन्ता न करो। मैं महाराज के लिए सब कुछ निछावर कर देने को तैयार हूँ।

रार्यासह––कितने पवित्र भाव हैं।

प्रबला––बेटा! बातों में समय न खो, उठ, हथियार पहन, और जितने सिपाही तेरे साथ आ सकें, उनको लेकर वहाँ पहुँच जा। इस समय एक-एक क्षण अनमोल है। (प्रस्थान)

रार्यासह––कितनी बहादुर स्त्री है। मगर वह क्या इनाम है, जिसे जीतने के लिए वह अपने पति की भी परवा नहीं करती। कहीं वह—मगर नहीं, वह नेक है। उसके मुँह पर पाप की जरा भी छाया नहीं। और यह फिर देखा जायगा, इस समय मुख्य काम महाराज को छुडाना है।

(तेजी से चले जाते हैं।)

तीसरा दृश्य

स्थान—बन्दीगृह।

समय—वही सन्ध्या।

बंदीगृह के संरक्षक और जोरावर के सिपाही लड़
रहे हैं। अनूपसिंह हथियार पहने आता है,
और यह दृश्य देखकर चौंक उठता है।

अनूपसिंह—यह कौन है, जिसने इतना साहस किया है? जैसलमेर के सूरमा सिपाहियो! तुम्हारे देश को अभी तुम्हारी आवश्यकता है, अपने आपको घर की फूट में नष्ट न करो, और तलवारें झुका लो। मैं तुम्हारा सेनापति हूँ।

एक सिपाही—हम अपने सरदार के सिवा और किसीको नहीं जानते।

अनूपसिंह—पर तुम्हारा सरदार कौन है?

(जोरावरसिंह का तलवार लिये हुए प्रवेश)

सिपाही—हमारे सरदार यह हैं।

अनूपसिंह—कौन जोरावरसिंह? यह सिपाही कहाँ से लिये?

जोरावरसिंह—राजकुमार ने भेजे हैं।

अनूपसिंह—मगर तुम यहाँ क्या करना चाहते हो?

जोरावरसिंह—यहाँ महाराज मूलराज कैद हैं।

अनूपसिंह—हैं, फिर।

जोरावरसिंह—वे जैसलमेर के राजा हैं।

अनूपसिंह—हैं! तो?

जोरावरसिंह—मैं उन्हें छुड़ाने आया हूँ।

अनूपसिंह—क्या बकते हो तुम? वह समय गया, जब वे महाराज थे। इस समय वे महाराज नहीं हैं।

जोरावरसिंह—वे पहले भी महाराज थे, अब भी महाराज हैं।

अनूपसिंह—तुम्हारी यह मजाल? पीछे हट जाओ।

जोरावरसिंह—मुझे रोकने की शक्ति किसमें है? सिपाहियो! इन्हें परे हटा दो। यह मेरी आज्ञा है।

अनूपसिंह—सावधान! मेरे निकट कोई न आये, मैं कत्ल कर दूँगा। मैं सेनापति हूँ।

जोरावरसिंह—नहीं, इन्होंने महाराज को कैद किया है। सिपाहियो! तुम्हारे महाराज को इन्होंने कैद किया है। मैं उन्हें छुड़ाने आया हूँ। तुम इन्हें परे हटा दो। यह तुम्हारे सेनापति नहीं हैं।

अनूपसिंह—कमीने, गुस्ताख लड़के! जरा सँभलकर बोल, मेरा क्रोध न जगा। (जोरावरसिंह अन्दर जाना चाहता है।) तू कहाँ जा रहा है?

जोरावरसिंह—मैं महाराज की बेड़ियाँ काटकर उन्हें बाहर लाऊँगा। अब वे कैद न रहेंगे।

(जोरावरसिंह अन्दर जाने को फिर मुड़ता है।)

अनूपसिंह—दरवाजे के पास न जा, वहाँ तेरी मौत खड़ी है।

जोरावरसिंह—पिताजी! राजपूत का बेटा मौत को बिल्ली का बच्चा समझता है! मैं उसके साथ बाल्यावस्था से खेलता आया हूँ। मुझे मौत के नाम से डराने का यत्न न कीजिए, मुझे मौत की जरा परवा नहीं। मैं मौत से नहीं डरता।

अनूपसिंह—आगे न बढ़। तुझे पछताना पड़ेगा।

जोरावरसिंह—महाराज! यह असम्भव है। मैं अन्दर जाऊँगा, मुझे कोई आदमी नहीं रोक सकता। मुझे कोई आदमी नहीं रोकेगा।

अनूपसिंह—और अगर कोई रोके, तो फिर?

जोरावरसिंह—उसकी भी वही दशा होगी, जो उस पहरेदार की हो चुकी है। जरा पहले उसे देख लीजिए।

अनूपसिंह—(लाश को देखकर) तो तुमने उसे कत्ल कर दिया?

जोरावरसिंह--उसने मेरा रास्ता रोका था, और अब भी जो मेरे सामने आयेगा, मैं उसे कत्ल कर दूंगा।

अनूपसिंह--तुम्हारे सामने मैं आऊँगा।

जोरावरसिंह--और मेरे हाथ में अब भी तलवार है। मैं आपको भी इसी तलवार से.......

अनूपसिंह--जब तेरी मौत ही आ गई है, तो मैं क्या कर सकता हूँ, और तू क्या कर सकता है?

(अनूपसिंह और जोरावरसिंह तलवारें खींच लेते हैं। सिपाही चुपचाप खड़े हैं। पिता-पुत्र में लड़ाई छिडा ही चाहती है कि प्रबला सिपाहियों के वेष में दाखिल होती है और पिता-पुत्र के बीच में खडी हो जाती है।)

प्रबला--पिता की तलवार पुत्र का लहू पियेगी, और ससार यह तमाशा देखेगा। परन्तु वह अभी बच्चा है और जब तक मैं जीती हूँ, मेरे बच्चे पर कोई हमला नहीं कर सकता।

अनूपसिंह--कौन? प्रबला!

प्रबला--जैसलमेर की राज-भक्त बेटी।

अनूपसिंह--तू यहाँ क्यों आई है?

प्रबला--इस अबोध बालक की सहायता और रक्षा के लिए।

अनूपसिंह--प्रबला! क्या तुम जानती है, तू कौन है, और मैं कौन हूँ?

प्रबला-- मैं घर में प्रबला हूँ, और आपकी स्त्री, आपकी दासी हूँ। परन्तु यहाँ जैसलमेर की बेटी और केवल बेटी हूँ, और महाराज को छुडाने आई हूँ। कोई धमकी, कोई प्रेम, कोई लोभ मुझे इस स्थान से न हटा सकेगा। और इस समय या वे कैदखाने से वाहर होंगे या पहले मेरी, और मेरे बाद मेरे बेटे की लाशें फड़कती दिखाई देंगी।

अनूपसिंह--तू तो मेरे सामने आज तक कभी इस तरह न बोली थी, आज तुझे क्या हो गया?

प्रबला——हर समय का धर्म अलग-अलग है। मुझे आपने आज तक स्त्री के रूप में, मा के रूप में, बहन के रूप में देखा है। मगर इस समय में सिपाही हूँ, और मेरी देह का एक-एक परमाणु इसी रग में रँगा हुआ है। मैं इस समय का सिपाही उस घर की प्रबला से बहुत भिन्न, बहुत दूर हूँ, और आपने इस सिपाही को आज पहली ही बार देखा है। जोरावर! जा, मकान के अन्दर जा और महाराज को स्वाधीन कर। यह सम्मान तुझी को प्राप्त होना चाहिए।

अनूपसिंह——ठहर, मूर्ख लडके! तू आगे न बढ सकेगा।

प्रबला——(अनूपसिंह का रास्ता रोककर) वह बढेगा, और उसे कोई नहीं रोक सकता।

(जोरावरसिंह तलवार खींचकर चला जाता है।)

अनूपसिंह——(आश्चर्य से) प्रबला! मुझे जाने दो! मैं कहता हूँ, मुझे जाने दो।

प्रबला——आपको मेरी लाश पर से गुजरना होगा।

अनूपसिंह——तू मेरा अपमान कर रही है।

प्रबला——मैं विवश हूँ, मैं इसके सिवा कुछ नहीं कर सकती। आप यत्न न करें।

अनूपसिंह——तूने आज तक मेरी हर एक बात सिर झुकाकर स्वीकार की है, मेरा हर एक कहना सिर झुका कर माना है।

प्रबला——(सिर झुकाकर) और आगे को भी सिर झुकाकर मानूंगी।

अनूपसिंह——और इस समय?

प्रबला——(तनकर) इस समय मुझे यहाँ से कोई भी शक्ति नहीं हटा सकती।

अनूपसिंह——मेरा हुक्म भी नहीं?

प्रबला——आपका हुक्म भी नहीं।

अनूपसिंह——यह तू क्या कह रही है? तू मेरी स्त्री है।

प्रबला——मैं इस समय कुछ भी नहीं हूँ, केवल जैसलमेर की एक बेटी

हूँ, और मेरा महाराज, मेरी जाति का सिरमौर कैद है। इस समय म उसे छुड़ाने आई हूँ।

अनूपसिंह—और मैं?

प्रबला—घर में मेरे स्वामी हैं, परन्तु यहाँ आपमें और अन्य राज-विद्रोहियों में कोई भेद नहीं है।

अनूपसिंह—तो तुम्हारी धारणा है, मैं विद्रोही हूँ, और मैंने विद्रोह किया है?

प्रबला—जरूर किया है। अन्यथा महाराज यहाँ कैद न होते, मैं इस वेष में न होती, आपको इन शब्दों से सम्बोधन न करती। आपका बेटा इस मकान के अंदर न जाता।

अनूपसिंह—प्रबला! मुझे मालूम है, जब महाराज छूट जायँगे, तो क्या होगा?

प्रबला—मैं आपका मतलब नहीं समझी।

अनूपसिंह—मुझपर अभियोग चलेगा, मुझे दड दिया जायगा।

प्रबला—मामूली बात है।

अनूपसिंह—मेरा अपराध बहुत बड़ा है। शायद मुझे देश-निकाले की सजा मिले, शायद फाँसी का दड मिले।

प्रबला—(काँपती है, मगर फिर साहस करके) मामूली बात है। राजपूत मौत को खेल समझते हैं।

अनूपसिंह—तो तू उस समय भी राज-भक्ति के नशे में चूर रहेगी? तुझे मेरा खयाल न आयेगा?

प्रबला—हर समय का धर्म्म जुदा है। उस समय भी मैं अपना धर्म्म न छोड़ूँगी।

अनूपसिंह—खुश होगी, मुझे मरते देखकर महाराज की जय-जयकार बुलायेगी। वाह वा सती साध्वी स्त्री! नारी-धर्म्म की महत्ता को तूने खूब समझा है। अपने पति को मरते देखेगी, और सामने खड़ी होकर चुप-चाप हँसेगी। यही तेरा धर्म है।

प्रबला---उस समय मेरा धर्म्म मुझे आग की ज्वाला पर बुला लेगा। मै (आँखो में आँसू भरकर) जल मरूँगी।

अनूपसिह---सती होगी ?

प्रबला---कोई पतिव्रता स्त्री अपने पति के बाद दुनिया में जीती नहीं रह सकती।

अनूपसिह---मगर इस समय मेरे रास्ते में खडी हो, मुझसे लडती हो, मेरी बात नहीं मानती हो ?

प्रबला---यह प्रजा का धर्म्म है।

अनूपसिह---और उस समय मेरे साथ जल मरने को तैयार हो जाओगी ?

प्रबला---वह स्त्री का धर्म्म होगा।

अनूपसिह---प्रबला ! तू नारी नहीं, नारी-रत्न है। मैंने तुझे आज तक न पहचाना था। तूने मेरी आँखें खोल दी है, तूने मुझे धर्म्म की दुनिया का रास्ता दिखा दिया है। तू धन्य है।

प्रबला---मैं एक सामान्य स्त्री हूँ, मै क्या कर सकती हूँ। धर्म्म की विवेचना बडी कठिन है।

अनूपसिह---मै धन्य हूँ, जिसे तेरी जैसी सच्ची स्त्री मिली। मेरा पुत्र धन्य है, जिसे तेरी जैसी वीरात्मा मा मिली। जैसलमेर धन्य है, जिसने तेरी जैसी धर्म्म-परायण पुत्री को जन्म दिया।

(रार्यासह का घबराये हुए प्रवेश।)

प्रबला---क्यों राजकुमार ! तुम घबराये हुए क्यों हो ?

रार्यासह---शहर में लोग मरने मारने को तैयार हो गये।

प्रबला---मरने मारने को तैयार हो गये ?

रार्यासह---सारे सरदार तलवारें लिये मुकाबिला करने आ रहे है। बताओ, क्या किया जाये ?

अनूपसिह---कोई चिन्ता नहीं, मै और मेरी सेना अभी जीती है। सब ठीक हो जायेगा।

रार्यासह---सेनापति !

अनूपसिंह—निश्चिन्त रहो। मैं सबको ठीक कर लूँगा।

रायसिंह—तो नर-हत्या होगी?

अनूपसिंह—नर-हत्या की अपेक्षा न्याय-हत्या अधिक भयानक है। मगर मैं रक्त-पात के बिना ही यह आग ठण्डी कर दूँगा। प्रबला! मैं उधर जाता हूँ। इधर का खयाल रखना तेरा काम है।

(अनूपसिंह तलवार खींचकर चला जाता है।)

रायसिंह—(श्रद्धा-भाव से) माता! मालूम होता है, यह भी तेरा ही काम है। भावी सन्तान तुझे नमस्कार करेगी। तेरा श्रीनाम लेकर भारत-वासियों की जीभ पवित्र हो जायगी। तू धन्य है।

(महाराज मूलराज और जोरावरसिंह बाहर निकलते हैं।
सारे सिपाही, रायसिंह और प्रबला नमस्कार करते हैं।)

महाराज—प्रबला कहाँ है? उसे हमारे सामने पेश करो। (प्रबला आगे बढ़कर सिर झुकाती है।) तू प्रबला है। तू सच्ची स्त्री है। तू हमारे सामने सिर न झुका, तेरे सामने हम सिर झुकाते हैं। तू नेक है, तू बहादुर है, और सबसे बढ़कर यह कि तू अपने धर्म्म को समझती है। हम तेरे आगे सिर झुकाते हैं। तूने हमें कैद से छुड़ाया है। तूने हमारी जान बचाई है।

प्रबला—महाराज! आप मेरे राजा हैं। आप मेरे सामने सिर न झुकायें, यह अनुचित है। मैंने कुछ नहीं किया। मैंने केवल अपने धर्म्म का पालन किया है।

महाराज—केवल धर्म्म का पालन किया है, बेटी! तूने सब कुछ किया है। धर्म्म में सब कुछ आ जाता है। हम तुझसे बहुत खुश हैं, हम तुझे मुँह-माँगा इनाम देंगे। माँग क्या माँगती है? हम तुझे सब कुछ देने को तैयार हैं।

प्रबला—(राजकुमार को पेश करके) मेरे देश के राजकुमार को आशीर्वाद दीजिए महाराज!

महाराज—यह गुस्ताख, खूनी, हत्यारा है! हम इसे सजा देंगे। तू

देवी है, इस नर-पिशाच की सिफारिश न कर। तूने स्त्री होकर अपना धर्म्म नहीं छोड़ा, हम मर्द होकर अपना धर्म्म कैसे छोड देंगे? नहीं! हम इसे सजा देंगे। यह हमारा लड़का है, पर यह अपराधी है। इसने देश का अपराध किया है। हम इसे सजा देंगे।

रायसिंह---मैं हर सजा के लिए हाजिर हूँ। मैं अपराधी हूँ।

महाराज---तू ठीक कहता है, तू अपराधी है।

प्रबला---मगर यह अपराधी नहीं है, आपको छुडाने के लिए हर समय यत्न करता था। इसकी गवाही देनेवाले सैकडो और हजारो हैं।

महाराज---और मत्री का कतल? इसका क्या जवाब है?

प्रबला---यह सिद्ध कर दिया जायगा कि मत्री देश और जाति का दुश्मन था, और इतना ही नहीं, वह मनुष्यत्व का कलक था। उसको कत्ल करके राजकुमार ने जैसलमेर का उपकार किया है। अगर राजकुमार उसे कत्ल न करते, तो यह अधर्म होता। राजकुमार ने अधर्म नहीं किया।

महाराज---अगर यह सिद्ध हो जाये, तो हम राजकुमार को माफ कर देंगे। परन्तु बेटी प्रबला! तूने हमपर बडा उपकार किया है। अगर तू यत्न न करती, तेरा नन्हा बालक आगे न बढता, तू अपनी जान को खतरे में न डाल देती, तो हम वहीं कैद में सड-सडकर मर जाते, और हमें बाहरी जगत की धूप और आकाश दोनो देखने का सुअवसर न मिलता। और हमें हमारी प्रजा भूल जाती, हम तेरे ऋणी हैं।

प्रबला---आप मेरे महाराज हैं।

महाराज---निस्सन्देह हम महाराज है। और महाराज कभी ऋणी नही रहते। इसलिए जब तक तेरा ऋण न चुका देंगे, यहाँ से एक पाँव भी न उठायेंगे। बेटी! मुझसे अपनी कोई इच्छा बयान कर, मैं उसे पूरा कर दूंगा।

(अनूपसिंह और दरबार के सरदार हाजिर होकर सिर झुकाते हैं।)

महाराज---तू कौन! अनूपसिंह! तू हट जा, हम तेरा सलाम नहीं लेते। हम तुझपर मुकदमा चलायेंगे। तू विद्रोही है, तूने हमें कैद किया था। और हम तेरे महाराज है। हम तुझे सजा देंगे।

अनूपसिंह—मगर यह सारे सरदार शहर की ईंट से ईंट बजा देते, अगर यही सूरमा सीना तानकर इनके सामने न खड़ा हो जाता। इन्होंने अपने पाप का प्रायश्चित्त कर लिया है। इसलिए अब इन्हें सजा नहीं मिलनी चाहिए।

महाराज—क्या यह सच है?

सरदार—(एक स्वर से) बिलकुल सच है।

महाराज—तो हमने तुम्हें माफ किया।

प्रबला—महाराज की जय हो!

महाराज—(एकाएक सिर उठाकर) सेनापति!

अनूपसिंह—(सिर झुकाकर) महाराज आज्ञा करें, मैं पालन करूँगा

महाराज—तुम्हारे सिपाही कहाँ हैं?

अनूपसिंह—मेरे सिपाही बाहर मैदान में खड़े श्रीमान्‌जी के दर्शन करने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

महाराज—इनको हुक्म दो, कि इन सब सरदारों को इसी समय गिरफ़्तार कर लें। ये विद्रोही हैं।

अनूपसिंह—(हाथ बाँधकर) महाराज!—

महाराज—चुप रहो! हम कुछ न सुनेंगे। हम इन्हें सजा देंगे।

अनूपसिंह—श्रीमान्!

महाराज—हमने तुम्हें माफ़ किया है, इन्हें माफ नहीं किया। इन्होंने विद्रोह किया था।

अनूपसिंह—मगर मैं इन्हें कैसे गिरफ्तार कर सकता हूँ। इन्होंने मेरी बात सुनी है, मेरा कहा माना है, और अब—नहीं महाराज! यह मुझसे नहीं हो सकता, यह मुझसे नहीं होगा! यह असम्भव है।

महाराज—तुम सच्चे सूरमा हो, तुमको अपने बचन का खयाल है। तुमको अपने साथियों का खयाल है। हम तुमसे खुश हैं। मगर इनको सजा जरूर मिलेगी। बेटी प्रबला!

प्रबला—महाराज!

महाराज--तुम सिपाहियों को हमारी ओर से हुक्म दो, कि इन सबको गिरफ़्तार कर लें। हम उनको सजा देंगे। इससे पहले भी जो काम तुम्हारे पति से नहीं हुआ, वह तुमने किया है। अब भी यह काम उससे नहीं हुआ, तुम करो। तुम वीर हो।

प्रबला--जो आज्ञा! (प्रवला बाहर चली जाती है।)

महाराज--अनूपसिंह!

अनूपसिंह--महाराज।

महाराज--इनपर मुकद्दमा चलेगा, और इन्हें सजा मिलेगी। हम जैसलमेर के राजा है, हम न्याय करेंगे। हमें न्याय करना होगा।

(सिपाही आकर सरदारो को गिरफ्तार कर लेते हैं। महाराज चलने को तैयार होते हैं। प्रबला रास्ता रोक लेती है।)

महाराज--क्यों बेटी! क्या बात है?

प्रवला--महाराज! मेरा मुँह-माँगा इनाम?

महाराज--ठीक है, हम भूल गये थे। हमें याद न रहा था। माँगो, क्या माँगती हो? हम देंगे।

प्रवला--मेरी इच्छा पूरी होगी?

महाराज--जरूर पूरी होगी।

प्रबला--मैं जो चाहूँ, माँग सकती हूँ?

महाराज--बडी खुशी से माँग सकती हो। हम तुझे आज्ञा देते हैं।

प्रबला--तो मेरी इच्छा यह है, कि इन सब सरदारो को .. ...

महाराज--(बात काटकर) नही, नहीं, यह नहीं होगा। कोई अपनी इच्छा कहो, कोई वस्तु अपने लिए माँगो। मगर इन विद्रोहियों के लिए, देश के इन दुश्मनों के लिए कुछ न कहो। इन्होंने राज्य का अपराध किया है। और राज्य का अपराध सबसे बड़ा अपराध है।

प्रबला--मेरी इच्छा केवल यह है कि इन सबको क्षमा कर दिया जाय।

महाराज--बेटी प्रबला!

प्रबला—मेरी यही इच्छा है महाराज!

महाराज—यह नही हो सकता, और जो चाहो, माँग लो। कहो तो तुम्हारे पति को मत्री बना दें?

प्रबला—नही महाराज!

महाराज—जागीर दे दें?

प्रबला—नहीं महाराज!

महाराज—बेटी प्रबला! हठ न कर। इसके सिवा और कोई चीज माँग ले। सिर्फ यह न माँग। हम यह नहीं देना चाहते।

प्रबला—मैं इसके सिवा और कुछ भी नहीं चाहती महाराज!

महाराज—वे विद्रोही है।

प्रबला—.....पर हारे हुए हैं।

महाराज—वे हमारे दुश्मन हैं।

प्रबला—.....,पर अब क्षमा चाहते हैं, अपनी भूल के लिए लज्जित हैं। इसलिए कृपा करके इनको क्षमा कर दिया जाय। देश में शान्ति हो जायगी। दया से बढ़कर दूसरा और कोई दड नहीं। यह दंड उन्हें सदा के लिए सुधार देगा।

महाराज—(निरुत्तर होकर) तेरे सामने कौन ठहर सकता है। जा हमने इन्हें भी क्षमा कर दिया। सेनापति! सबको छोड दो।

प्रबला—महाराज की जय हो। पहले आपने इनके शरीर जीते थे, अब दिल भी जीत लिये हैं। आज आप सच्चे महाराज हैं!

महाराज—बेटी! यह सब तेरा ही पुण्य-प्रताप है। आज सध्या के दो घटो में यह तीसरा काम है, जो तेरे पति से नहीं हुआ, और तुझसे हो गया है। अनूपसिह! इस अनमोल हीरे की कद्र कर, अपने आपको इसके योग्य बना। इसपर जैसलमेर को सदा मान रहेगा। यह जैसलमेर का सबसे बड़ा हीरा है।

(महाराज का, सिपाहियो का, और रायसिह का चले जाना।)

जोरावरसिंह—(प्रबला के पास जाकर) अब मेरी एक प्रार्थना है।

प्रबला--(हँसकर) अब तेरी क्या प्रार्थना है ?

जोरावरसिंह--आपने महाराज का काम किया, उन्होंने आपको मुँह-माँगा इनाम दिया। मैंने आपकी आज्ञा का पालन किया, मुझे आपसे क्या इनाम मिला ?

प्रबला--तुम मुझसे इनाम माँगो, मैं दूँगी।

जोरावरसिंह--जो माँगूँगा, मिलेगा ?

प्रबला--जरूर मिलेगा।

जोरावरसिंह--कहो, प्रतिज्ञा की।

प्रबला--(हँसकर) प्रतिज्ञा की।

अनूपसिंह--बेटा ! जरा सोचकर ! कोई अच्छी सी चीज माँगना । इन्हें भी याद रहे कि किसी ने कुछ माँगा था।

प्रबला--पिता-पुत्र मिलकर मुझे लूट लो।

जोरावरसिंह--नहीं, मैं इस समय अपनी मा को कभी न भूलूँगा ।

प्रबला--तो माँगो, क्या माँगते हो, प्रतिज्ञा की, तुम जो माँगोगे, मैं दूँगी। मगर आकाश के तारे न माँग बैठना। मैं आकाश पर न जा सकूँगी, न तारे तोडकर तुम्हारी झोली भर सकूँगी ।

जोरावरसिंह--बात यह है कि आजकल हमारे घर में एक सिपाही प्रबलसिंह आ घुसा है, और उसने मेरी मा को घर से निकाल दिया है। मेरी इच्छा यह है कि तुम चलकर उसको बाहर निकाल डालो, मेरी मा घर आ जायगी। (मा की ओर देखकर मुसकराता है)।

अनूपसिंह--वाह वा ! क्या कहना ! ! मेरी भी यही इच्छा है, कि मेरे घर में कोई दूसरा सिपाही न रहने पाये।

प्रबला--डाह होता है क्या आपको ?

अनूपसिंह--और क्यो न हो ? कौन पुरुष है जो इस रोग से बचा है। मैं भी पुरुष हूँ ।

जोरावरसिंह--(मा से) क्यों जी ! मेरा इनाम मुझे मिलेगा या जाकर महाराज से फरियाद करूँ ?

प्रबला—भई, बात यह है कि मुझसे तेरी यह इच्छा पूर्ण न हो सकेगी। जा, जाकर महाराज से कह, तेरी इच्छा वही पूरी करेंगे।

जोरावरसिंह—यह बात है, तो लो मैं यह गया।

(अनूपसिंह के सामने जाकर खड़ा हो जाता है।)

अनूपसिंह—कहो, क्या बात है। हम सुन रहे हैं।

जोरावरसिंह—महाराज की दुहाई है! महाराज की दुहाई है।

प्रबला—परन्तु यह महाराज तो नहीं हैं। वे चले गये।

जोरावरसिंह—जो चले गये हैं, वह बाहर के महाराज हैं। हमारे घर के महाराज तो यही हैं। मेरी फरियाद इन्हीं से है।

अनूपसिंह—ठीक है। हम न्याय करेंगे।

प्रबला—वाह वा! बेटा मुकद्दमा चलायेगा, पिता फैसला करेगा, अब प्रबलसिंह की मौत आ गई, उसे कौन बचा सकेगा?

(ईरा का प्रवेश)

ईरा—तुम्हें मैं बचाऊँगी भाभी!

प्रबला—कौन ईरा?

ईरा—आखिर तुमने अपनी प्रतीज्ञा पूरी कर ली। सारा शहर तुम्हारी जय-जयकार से गूंज रहा है, और सारे लोग तुम्हारा नाम ले-लेकर खुश हो रहे हैं। तुम जैसी बहादुर भाभी पाकर मैं फूली नहीं समाती।

जोरावरसिंह—और मैं तुम जैसी मा पाकर फूला नहीं समाता।

अनूपसिंह—मगर हमारी बात कोई नहीं सुनता।

जोरावरसिंह—तुम्हारी बात मैं सुनूंगा। (मा से) क्यों माँ! मेरा मुँह-माँगा इनाम?

प्रबला—ले बेटा! (जंगी वेष उतारकर) यह सरदार प्रबलसिंह मरा, और यह तेरी मा तेरा मूँह चूमने के लिए आगे बढ़ी। कभी उसने तुम्हें जन्म दिया था, मगर आज।

ईरा—तूने उसे जन्म दिया। आहा! हा!!

(सब हँसते हैं। परदा गिरता है।)